भगवान वेदव्यासप्रणीत

(अध्यात्मरामायणान्तर्गता)

श्रीरामगीता

('ब्रह्मविवेचनी प्रदीपिका' हिन्दीव्याख्या सहिता)
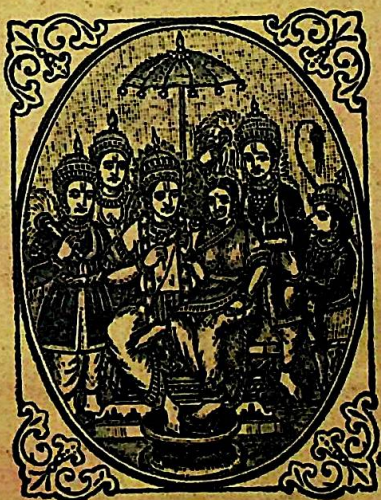
श्रीराम पंचायतन

मनोहरलाल शर्मा

श्रीरामगीता

'ब्रह्मविवेचनी प्रदीपिका' हिन्दीव्याख्या सहिता

टीकाकार

पण्डित मनोहरलाल शर्मा M. A. 'गुरुभक्तरत्न'

प्रकाशक तथा प्राप्ति स्थान।
विश्वेश्वर लाल भिवानीवाला
१/१ जगमोहन मल्लिक लेन
कलकत्ता-७

लेखक की अन्य टीकाएं

१—श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'ब्रह्मानुचिन्तनम्' पर 'ओंकारी प्रदीपिका'—(अद्वैतवेदान्त का यह सूक्ष्म ग्रंथ संन्यासियों और प्रौढ़ मुमुक्षुओं के अभ्यास के लिये परम उपयोगी है।)

२—श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'अपरोक्षानुभूतिः' पर 'चन्द्रकान्त प्रदीपिका'—(अद्वैतवेदान्त का यह ग्रंथ स्त्री पुरुष सब के लिये परम उपयोगी हैं।)

३—श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'विवेकचूडामणिः' पर 'सप्त प्ररणी-ओंकारी प्रदीपिका'—(अद्वैतवेदान्त का सर्वांगीण पूर्ण यह ग्रंथ मुमुक्षुओं के लिये अनिवार्य है।)

प्रथमावृत्ति—१००० विक्रम सम्वत् २०२२ (सन् १९६५)

मुद्रक—जेनरल प्रिण्टिङ्ग वर्क्स प्राइवेट लिमिटेड,
८३, ओल्ड चीनाबाजार स्ट्रीट, कलकत्ता-१

श्रीः

प्रकाशकीय

पं० मनोहरलालजी शर्मा की 'ब्रह्मविवेचनी' व्याख्या सहित श्रीरामगीता को छपा कर मुझे अनन्त हर्ष हुआ है। जन साधारण भगवान कृष्ण की श्रीमद्भगवद्गीता से ही परिचित है, परन्तु विष्णु भगवान ने रामरूप से भी लक्ष्मणजी को ब्रह्मज्ञान देने के वहाने जगन्मंगल के उद्देश्य से श्रीरामगीता को प्रगट किया है। यह ग्रंथ, शुद्ध ब्रह्मज्ञान संबंधी है और इस में प्रक्रिया और सिद्धान्त दोनों ही हैं। पण्डितजी की मार्मिक हिन्दी व्याख्या से श्रीरामगीता उज्जवल हो उठी है। यह ग्रंथ पापपुञ्जनाशक, धर्मविवर्धक तथा शुद्धज्ञानदायक है। मैं आशा करता हूँ कि पाठकगण श्रीरामगीता के भक्तिपूर्वक पाठ और विचार से लाभान्वित होंगे।

विश्वेश्वरलाल भिवानीवाला

अखिल भारतीय रामराज्य परिषद्

वर्तमान शिविर—कलकत्ता

दिनांक १९-१२-६४

श्री पं० मनोहरलाल शर्मा द्वारा विरचित 'रामगीता' की हिन्दी टीका कहीं-कहीं देखी। इसमें वेदान्त के गम्भीर भावों का पाण्डित्यपूर्ण ढङ्ग से सरल सुबोध शब्दों में अच्छी तरह प्रतिपादन किया गया है। मुमुक्षुओं के लिए पुस्तकसङ्ग्राह्य है।

श्री १००८ स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज

श्रीराम के प्रति

हे राम ! यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि आप मुझ से अभिन्न मेरे ही आत्मा हो और इस जीवधारी के मंगलसाधन में सुहृद्वत् सतत सचेष्ट हो, और इस शरीर को नाना प्रकार के सुख पहुँचा कर इसके हित के लिये इसे बहुत नचाते हो, परन्तु हे देव ! शरणागतदीनार्त-परित्राणपरायण ! क्षितिपालभूषण ! विप्रहितकारिन् ! अब आप ऐसी कृपा करें कि आप की माया का संवरण हो, और आप का अपना आत्मा, मनोहरलाल शर्मा नाम से मूढ़ों में प्रसिद्ध नित्यमुक्त होकर भी उपाधियों से विमुक्त सा हो स्व-स्वरूप में सुमत्तचित्त हुआ अवस्थान करे।

आप के मुखारविन्द से निकला रामगीतारूप ब्रह्मज्ञानामृत जिसको पान कर लक्ष्मणजी अमर हुए, उस पर इस शरीरधारी द्वारा विरचित 'ब्रह्मविवेचनी प्रदीपिका' नामक हिन्दी व्याख्या आपके ही पदपंकजों में सादर समर्पित।

आप का आत्मा,
मनोहरलाल शर्मा।

कलकत्ता — विजयादशमी, विक्रम
५-१०-६५ — सम्वत् २०२२

श्रीरामगीता

प्राक्कथन

भगवान रामजी के आदेश से उन की श्रीरामगीता पर प्रस्तुत 'ब्रह्मविवेचनी प्रदीपिका' लिखी गई है, और अब जनकल्याण के लिये यह छपाई जाती है। जो भी कोई स्त्री पुरुष इस ग्रंथ को छपा कर अधिकारियों में वितरण करेंगे अथवा रामजी के ज्ञान का प्रचार, प्रसार करेंगे, वे निस्संदेह रामजी की कृपा के भाजन बनेंगे। धनार्थी धन पायेगा, पुत्रार्थी पुत्र पायेगा, विद्यार्थी विद्या पायेगा। जिस शुभ इच्छा से श्रीरामगीता की सेवा की जायेगी, वही इच्छा पूर्ण होगी।

सर्वज्ञ भगवान वेदव्यासकृत अध्यात्मरामायण के उत्तरकांड का पांचवाँ सर्ग श्रीरामगीता कहलाता है। सीता जी के निष्कासन से लक्ष्मणजी को मोह हो गया अथवा उनका शुभविचार जागा। उन्होंने एकान्त अवसर देखकर रामजी से प्रार्थना की, 'यथाऽञ्जसाऽज्ञान-मपारवारिधिं सुखं तरिष्यामि तथाऽनुशाधि माम्।' हे प्रभो! जिस प्रकार मैं सुखपूर्वक और शीघ्रता से अपार अज्ञानसागर को पार हो जाऊँ, ऐसा मुझे उपदेश करें। अपने कनिष्ठ प्रिय भ्राता, सेवक, भक्त तथा ज्ञानाधिकारी लक्ष्मण जी के ऐसे वचन सुन कर भगवान रामजी ने प्रसन्न होकर लक्ष्मण जी के मोह निवारण के निमित्त रामगीता का ज्ञानोपदेश किया। लक्ष्मणजी इस ज्ञानामृत को पीकर अमर हो गये। अन्य भी जो कोई मुमुक्षु रामगीतामृत पान करेगा, वह भी सुखपूर्वक और सुगमता से भवसागर पार होकर कैवल्यमोक्ष प्राप्त करेगा। जो रामजी की निर्गुणोपासना (अभेदरूप से) करेगा वह भी क्या तो शरीरपात के समय मुक्त होगा अथवा ब्रह्मलोक के दिव्यभोगों को भोग कर महाप्रलय में ब्रह्मलोक के पतन होने पर मुक्त होगा। जो साधक, विचार में असमर्थ होने से श्रीरामगीता का केवल पाठमात्र, करेगा, अथवा श्रवण करेगा वह भी रामजी के लोक में जाकर उन से एकता प्राप्त करके सायुज्यमोक्ष लाभ करेगा।

परब्रह्म परमेश्वर रामजी ने वेदमहासागर का मन्थन करके उनका साररूप अमृतरस ६२ श्लोकों की श्रीरामगीता में भरा है। अतः यह ग्रंथरत्न अत्यन्त पवित्र, प्रामाणिक, पापनाशक, पुण्यवर्धक और मोक्षदायक है। श्रीरामगीता वेदान्तसंग्रह नाम से भी प्रसिद्ध है। ग्रंथ का सूक्ष्म आकार होने से साधकगण शनैः शनैः इस को कण्ठ करें, और स्पष्ट उच्चस्वर से इस का गायन करते हुए पाठ करें। श्रीरामगीता का कितना माहात्म्य है, उस को पूर्णरूप से तो शंकर जी ही जानते हैं, उस से आधा पार्वती माता तथा उस से आधा ब्रह्माजी। जो श्रीरामगीता की साधना करेंगे, श्रीरामजी उन पर अपना रहस्य प्रगट करेंगे।

हमने अपनी प्रदीपिका में श्लोकों का अन्वय, पदच्छेद, सरल अर्थ तथा प्रत्येक पद की श्रुति आदि के प्रमाणों सहित व्याख्या दी है। श्लोक सूची में प्रत्येक श्लोक का विषय भी संक्षेप में दिया है जिस से साधक विहंगम दृष्टि से संपूर्ण विषय से अवगत हो सकें। वर्णाश्रम धर्मनिरपेक्ष, स्त्री, पुरुष, ब्रह्मचारी, गृही, विरागी सब इस ग्रंथ के अधिकारी हैं।

अध्यात्मरामायण पर मुझे नरोत्तम तथा रामवर्म्मा की संस्कृत टीका उपलब्ध हुई। श्रीरामगीता के सम्बन्ध में रामवर्म्मा की टीका अधिक उपयोगी है। मुझे इन दोनों से ही सहायता मिली है।

विनीत
मनोहरलाल शर्मा

(९)

श्रीरामगीता

विषय सूची

श्रीरामगीता माहात्म्यम्

(ब्रह्माजी के वचन नारद के प्रति सूत जी सुनाते हैं)

सूत उवाच—

श्रीरामगीतामाहात्म्यं कृत्सनं जानाति शंकरः ।
तदर्धं गिरिजा वेत्ति तदर्धं वेद्म्यहं मुने ।।४६।।

श्री रामगीता के माहात्म्य को पूर्णरूप से शंकर जी जानते हैं, उससे आधा पार्वती जी तथा उस से भी आधा, हे नारद मुनि ! मैं (ब्रह्माजी) जानता हूँ ।।४६।।

तत्ते किंचित्प्रवक्ष्यामि कृत्सनं वक्तुं न शक्यते ।
यज्ज्ञात्वा तत्क्षणाल्लोकश्चित्तशुद्धिमवाप्नुयात् ।।४७।।

उस माहात्म्य को कुछ कहता हूँ, क्योंकि पूरा कहने का मेरा सामर्थ्य नहीं । इसको जान कर पुरुष का अन्तःकरण तत्काल शुद्ध होता है ।।४७।।

श्रीरामगीता यत्पापं न नाशयति नारदः ।
तन्न नश्यति तीर्थादौ लोके क्वापि कदाचन ।।
तन्न पश्याम्यहं लोके मार्गमाणोऽपि सर्वदा ।।४८।।

हे नारद ! जिस पाप का श्रीरामगीता नाश नहीं कर सकती वह पाप संसार में तीर्थादि में कहीं भी किसी काल में नष्ट नहीं हो सकता । परन्तु ऐसा कोई पाप संसार में खोजने पर भी नहीं मिलता, जिसे रामगीता नष्ट न कर सके ।।४८।।

रामेणोपनिषत्सिन्धुमुन्मथ्योत्पादितां मुदा ।
लक्ष्मणायार्पितां गीतासुधां पीत्वाऽमरो भवेत् ।।४९।।

श्रीरामजी द्वारा उपनिषद् सिन्धु का मन्थन करके श्रीरामगीतामृत को उत्पन्न किया और प्रसन्नता पूर्वक लक्ष्मण जी को अर्पित किया, इसको पान करके पुरुष अमरपद प्राप्त करे ।।४९।।

जमदग्निसुतः पूर्वं कार्तवीर्य-वधेच्छया ।
धनुर्विद्यामभ्यसितुं महेशस्यान्तिके वसन् ।।५०।।

अधीयमानां पार्वत्या रामगीतां प्रयत्नतः ।
श्रुत्वा गृहीत्वाशु पठन्नारायण-कलामगात् ।।५१।।

पूर्व में जमदग्निऋषि के पुत्र परशुराम जी कार्तवीर्य के वध की इच्छा से धनुर्विद्या का अभ्यास करने के लिये भगवान शंकर के समीप रहते थे। पार्वती माता रामगीता का पाठ करती थीं। उन से सुन कर, अथक परिश्रम से ग्रहण करके श्रीरामगीता के पाठ करने से शीघ्र ही नारायण कला को प्राप्त हुए ।।५०-५१।।

ब्रह्महत्यादि - पापानां निष्कृतिं यदि वाञ्छति ।
रामगीतां मासत्रयं पठित्वा मुच्यते नरः ।।५२।।

यदि पुरुष ब्रह्महत्यादि पापों से छूटना चाहता है तो श्रीरामगीता का तीन महीने तक पाठ करने से छूट जाता है ।।५२।।

(इस में तीनकाल स्नान, पाठ, एकाहार, ब्रह्मचर्य, भूमिशयन, एकादशी व्रतादि आवश्यक हैं)

दुष्प्रतिग्रह-दुर्भोज्य-दुरालापादि-सम्भवम् ।
पापं यत्तत्कीर्तनेन रामगीता विनाशयेत् ।।५३।।

खोटे दान, अभोज्य भोजन तथा दुष्टभाषण से उत्पन्न जो पाप हैं उनको श्रीरामगीता का गायन नष्ट कर देता है ।।५३।।

शालिग्रामशिलाग्रे च तुलस्यश्वत्थसन्निधौ ।
यतीनां पुरतस्तद्वद्रामगीतां पठेत्तु यः ।।५४।।
स तत्फलमवाप्नोति यद्वाचोऽपि न गोचरम् ।।५५।।

शालग्राम जी के सामने, तुलसी के समीप, अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के नीचे; संन्यासियों के सामने (उनकी अनुमति से) जो रामगीता का गायन करता है वह उस महान फल को प्राप्त होता है जिस को वाणी व्यक्त नहीं कर सकती ।।५४-५५।।

रामगीतां पठन्भक्त्या यः श्राद्धे भोजयेद् द्विजान् ।
तस्य ते पितरः सर्वे यान्ति विष्णोः परं पदम् ।।५६।।

जो श्राद्धकाल में रामगीता का भक्तिपूर्वक पाठ करता हुआ ब्राह्मणों को भोजन कराता है, उस के सब पितृेश्वरगण विष्णु पद को प्राप्त होते हैं ।।५६।।

एकादश्यां निराहारो नियतो द्वादशी दिने ।
स्थित्वागस्त्यतरोमूले रामगीतां पठेत्तु यः ।
स एव राघवः साक्षात्सर्वदेवैश्च पूज्यते ।।५७।।

जो एकादमी के दिन निराहार और जितेन्द्रिय रह कर द्वादशी के दिन अगस्त्य (हतिया, वकुल, बृहद्मोलसरी) वृक्ष के नीचे मूल के समीप बैठकर रामगीता का पठन करता है, उस में साक्षात् रामजी के गुणों का अवतरण होता है, और वह सब देवताओं से पूज्य होता है ।।५७।।

विना दानं विना ध्यानं विना तीर्थावगाहनम् ।
रामगीतां नरोऽधीत्य तदनन्तफलं लभेत् ।।५८।।

विना दान, विना ध्यान, विना तीर्थ किये ही पुरुष केवल रामगीता के पाठ, विचार, अभ्यास के बल से आत्मसाक्षात्कार करके अनन्तफल अर्थात् कैवल्यमोक्ष फल को पाता है ।।५८।।

बहुना किमिहोक्तेन शृणु नारद तत्त्वतः ।
यस्य विज्ञानमात्रेण वाञ्छितार्थफलं लभेत् ।।५९।।

हे नारद सुनो, अधिक कहने से क्या, रामगीता के तत्त्व विचार मात्र से मनुष्य इच्छितफल प्राप्त करता है ।।५९।।

(गीतापाठ के उपरान्त माहात्म्य अवश्य पढ़ें)

इति श्रीब्रह्माण्डपुराणे उत्तरखण्डे अध्यात्मरामायणमाहात्म्ये एकषष्टितमे सर्गे श्रीरामगीतामाहात्म्यं समाप्तम् ।।

—o—

श्रीरामगीता

मङ्गलाचरणम्

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्ति च तत्पुत्रपराशरं च ।
व्यासं शुकं गौड़पादं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ।।
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादञ्च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि ।।१।।

ब्रह्म विद्या के आदिगुरु नारायण को तथा ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति तथा उनके पुत्र पराशर, वेदव्यास, शुक देव, महान गौडपादाचार्य, योगीराज गोविन्दपादाचार्य, उनके शिष्य श्रीमच्छंकरभगवत्पाद और उनके शिष्य समुदाय पद्मपाद, हस्तामलक, त्रोटकाचार्य तथा सुरेशाचार्य एवं ब्रह्मविद्या के हमारे अन्यगुरुजनों को मैं सदा प्रमाण करता हूँ ।।१।।

मायातीतं माधवमाद्यं जगदादिं, मानातीतं मोहविनाशं मुनिवन्द्यम् ।
योगिध्येयं योगविधानं परिपूर्णं, वन्दे रामं रंजितलोकं रमणीयम् ।२।

मायामल से असंस्पृष्ट, लक्ष्मीपति, आदि पुरुष, जगत के निमित्त और उपादान कारण, प्रमाण से अगम्य, अज्ञान नाशक, मननशील मुनियों से वन्दनीय, योगियों द्वारा ध्यान किये जाने योग्य, योग के विधानकर्ता, देश-काल-वस्तु परिच्छेदरहित अनन्त, भक्तों को हर्षित करनेवाले सुन्दर रामजी को मैं प्रणाम करता हूँ ।।२।।

ओंकारं परमानन्दं विद्यावारिधिमद्वयम् ।
मोहध्वान्तविनाशायाऽहस्करं तं नतोऽस्म्यहम् ।।३।।

श्री गुरुदेव स्वामी ओंकाराश्रमजी दंडी को, जो ब्रह्मविद्या के अगाधसागर हैं, और ब्रह्मवित् होने से शुद्ध परमानन्दरूप ब्रह्म ही हैं, जो अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करने के लिये सूर्य तुल्य हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ।।३।।

यस्य कारुण्यदृष्ट्यैव जडो भवति बोधवान् ।
महावेदान्तपञ्चास्यं यतिवर्यं नतोऽस्म्यहम् ।।४।।

जिनकी कृपाकटाक्षमात्र से मूढ भी ज्ञानवान हो जाता है, ऐसे 'महावेदान्तकेसरी' श्रेष्ठ संन्यासी को मैं प्रणाम करता हूँ ।।४।।

व्याख्यां ब्रह्मविवेचनीं सविशदां श्रीरामगीतोज्जवलाम् ।
प्रामाण्येन परिष्कृतां बुधजनैरत्यादृतां मंगलाम् ।
श्रीमद्दिव्यगुरुकृपासुरचितां सीतापतिप्रेरितः ।
कुर्वे शाणपटुः सदा मनहरः श्रीरामहृद्यामिमाम् ।।५।।

सीतापति रामजी की प्रेरणा से, श्रीगुरुदेव की अतुलनीय कृपा से श्रीराम की प्रिया श्रीरामगीता के गहन रहस्यों को प्रकाशित करने वाली, श्रुतिस्मृति प्रमाणों से परिष्कृत, विज्ञ पुरुषों से समादरित, मंगलदायिनी, मुमुक्षुगण के सुबोध के लिए तथा रामजी की प्रसन्नता के लिये, मैं पाट तथा पाटमाल के वाणिज्य का विशेषज्ञ मनोहरलाल शर्मा सुस्पष्ट 'ब्रह्मविवेचनी प्रदीपिका' लिखता हूँ ।।५।।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ।। शान्तिः ।।।

—o—

(ॐ श्रीरामाय नमः)

श्रीरामगीता

श्रीमहादेव उवाच

ततो जगन्मङ्गलमङ्गलात्मना, विधाय रामायणकीर्तिमुत्तमाम् ।
चचार पूर्वाचरितं रघूत्तमो, राजर्षिवर्यैरभिसेवितं यथा ॥१॥

अर्थ—श्री महादेव जी पार्वती जी को बोले—सीतात्याग के उपरान्त रामजी ने रामायण की उत्तम कीर्ति को स्थापन करके, पूर्व में श्रेष्ठ राजर्षियों ने जैसा आचरण किया वैसा ही आचरण किया ।

सर्वज्ञ भगवान वेदव्यासकृत संस्कृतग्रंथ श्रीमदध्यात्मरामायण के उत्तर काण्ड का पाँचवा अध्याय श्रीरामगीता है । लंकाविजय के उपरान्त जनापवादभय से पारब्रह्मपरमेश्वर रामजी ने आदिशक्ति महामाया सीता की वन में परित्याग की लीला की । सीता जी के नगर-निष्कासन का कार्यभार लक्ष्मण जी को सौंपा गया । लक्ष्मण जी को आज्ञा दी, 'तुम कल सवेरे सीता जी को रथ पर चढ़ा कर वाल्मीकि मुनि के आश्रम के समीप छोड़ आओ । इस विषय में यदि तुम कुछ बोलोगे तो मेरी हत्या करोगे ।' ऐंसी कठोर आज्ञा सुन कर लक्ष्मण जी ने राजपुत्री राजमहिषी गर्भगुर्वी कोमलांगी निरीहा भगवती सीता को एकाकिनी ही हिंसकजंतुपूर्ण वन में त्यक्त किया, और त्यागने के उपरान्त उनके निस्सहाय करुणा निनाद को अपने कानों से सुना । लक्ष्मण जी मोहित हो गये उनको ऐसा लगा मानो उनके द्वारा घोर दुष्कर्म संपादित हुआ । उस से कैसे निस्तारा मिले ? दुःखमय संसारसागर से पार होने का क्या उपाय है ? लक्ष्मण जी इस प्रकार की अन्तर्व्यथा से उत्पीडित थे ।

रामजी की अप्रतिहत आज्ञा उनके पराक्रम तथा उनके ईश्वरत्व से प्रभावित लक्ष्मण जी कुछ बोल भी न पाते थे, क्यों कि उनकी आज्ञा थी, 'वक्ष्यसे यदि वा किंचित्तदा मां हतवानसि ।' उत्तरकांड ४।५६ । यदि सीता जी के निकालने के संबंध में कुछ कहोगे तो मेरा हनन करोगे । उधर मर्यादा पुरुषोत्तम रामजी सीताजी को त्याग कर राजर्षियों के आचारण का स्वांग करने लगे, क्योंकि वे स्वरूप से सदा अकर्ता, अभोक्ता, असंग, अद्वय सच्चिदानन्दघन परिपूर्ण परमात्मा हैं । लक्ष्मण जी के मोहनिवारण के लिये, रामजी ने जो उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया उसे रामगीता कहते हैं । श्री महादेवजी ने रामजी और लक्ष्मण जी के इस ज्ञानसंवाद को माता पार्वती को सुनाया है । प्रथम छः श्लोकों में ग्रंथ की भूमिका हैं, मुख्य ग्रंथ सातवें श्लोक से आरम्भ होता है ।

व्याख्या—सीता जी के त्याग के उपरान्त रामजी ने क्या किया यह वताते हैं ।

श्री महादेवः उवाच—भगवान शंकर राम-लक्ष्मण के पुण्य सम्वाद को पार्वती माता को सुनाते हैं । श्री महादेव ने कहा **ततः**-सीता जी को वन में त्यागने के उपरान्त **जगत्-मंगल-मंगलात्मना**—संसार के कल्याण के लिये जिन भगवान राम ने कल्याणमय देह धारण किया, वह जगन्मंगलमंगलात्मा, उस से, आत्मा का अर्थ यहाँ गौणात्मा अर्थात् देह लिया जायेगा, अथवा जगत् में जितने मंगल हैं अर्थात् आनन्द हैं उनका जो मूल कारण है वह ब्रह्मानन्द, वही ही आत्मा वह जगन्मंगलमंगलात्मा, उस से, 'आनन्दो ब्रह्म','आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' इति तैत्तिरीयोपनिषद भृगुवल्ली छठा अनुवाक इति श्रुतिः, आनन्द ब्रह्म है । इस आनन्द से ही सव प्राणी उत्पन्न होते हैं । उत्पन्न होकर आनन्द से सव प्राणी जीते हैं, और सव भूत अन्त में उसी आनन्द में लय होते हैं । 'मंगलानाम् च मंगलम्' इति स्मृतिः, वह आत्मा सव मंगलों का मंगल है, सव आनन्दों का अधिष्ठान आत्मा है, वह रामजी कौन है ?

रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च।
अन्तरात्मस्वरूपेण यच्च रामेति कथ्यते ।।

स्कन्द महापुराण ब्रह्मखंडचातुर्मास्य माहात्म्य २४।४६।

सब भूतों में, जड़जंगम जगत् में जो अन्तरात्मा स्वरूप से, सर्वाधिष्ठान रूप से रमण करता है वह राम कहलाता है। वह अपना आत्मा ही है, इसलिये सब का प्रिय है।

अथवा जगत का मंगल, कल्याण जिस से हो वह कल्याणरूप आत्मा, मूर्ति, विग्रह, उस रामरूप शरीरधारी आत्मा से **उत्तमाम्**—पवित्र, पापनाशिनी कर्णप्रिय, चतुर्विधिपुरुषार्थ साधनकरी **रामायणकीर्तिम्**—रामजी के यश को, रावणादि राक्षसों के संहार से देव-द्विजहर्ष-दायनी कीर्ति को **विधाय**—स्थापित कर के **राजर्षिवर्यैः**—स्व-वंशज पृथु रघु आदि श्रेष्ठ राजर्षियों से, ब्राह्मणों में जो मंत्रद्रष्टा ऋषि हो वह ब्रह्मर्षि कहलाता है, और क्षत्रियों में जो मंत्रद्रष्टा ऋषि हो जाये वह राजर्षि कहलाता है **अभिसेविताम्**—अपनाया हुआ, भले प्रकार अनुसरण किया हुआ **यथा पूर्व आचरितम्**—रामजी के पूर्वज राजर्षियों ने जैसा आचरण किया था, शास्त्रोक्तमार्ग से प्रजापालन, वेद-गो-ब्राह्मण का रक्षण, दान दयाशीलता वेदान्त इतिहास सत्कथादि श्रवण **रघूत्तमः**—रघुवंशियों में श्रेष्ठ, रामजी ने **चचार**—वैसा ही धर्मसम्मत वेदविहित आचरण किया, अन्य के पूर्वजों का अनुकरण नहीं किया, क्योंकि उस से वेदविरुद्ध आचरण होने की संभावना थी ।।१।।

सौमित्रिणा पृष्ट उदारबुद्धिना,
रामः कथाः प्राह पुरातनीः शुभाः।
राज्ञः प्रमत्तस्य नृगस्य शापतो,
द्विजस्य तिर्यक्त्वमथाह राघवः ।।२।।

अर्थ—विशाल बुद्धि लक्ष्मण जी से पूछा जाने पर रामजी ने पुरानी शुभ कथाएँ सुनाईं। फिर रामजी ने प्रमादी राजा नृग, जिस को ब्राह्मण के शाप से गिरगिट की योनि प्राप्त हुई थी, की कथा सुनाई।

व्याख्या—**उदार बुद्धिना सौमित्रिणा**—सुमित्रा के पुत्र, सौमित्रि, लक्ष्मण जी से, गुरुशास्त्र वचनों में विश्वास करने से उदार, दयादान दाक्षिण्यादि गुणों से संयुक्त उदार, मोक्षेच्छा होने से उदार बुद्धि से **पृष्ट :**—पूछने पर **रामः**—रामजी ने **पुरातनीः**—प्राचीन श्रेष्ठ-राजाओं की, **शुभा :**—पुण्यवती, धर्माधर्म निर्णयकर्त्री **कथाः :**—कथा, इतिहास **प्राह**—कही, सुनाई। श्लोक के प्रथम अर्ध में शुभ कथाएँ सुनाई, हैं, इन से पुण्यार्जन होता है, और श्लोक के उत्तरार्ध में अशुभ कथाओं की ओर संकेत है। **अथ**—शुभ कथा सुनाने के उपरान्त **प्रमत्तस्य नृगस्य राज्ञः**—प्रमादी राजा नृग की **द्विजस्य शापतः**—ब्राह्मण के शाप से **तिर्यक्त्वम्**—तिर्यक योनि गिरगिट की अशुभ योनि प्राप्त हुई **राघवः**—श्रीराम जी ने **आह**—उस कथा को कहा। राजा को प्रमाददोष से सतर्क करने के लिये रामजी ने यह कथा सुनाई।

संक्षेप में कथा इस प्रकार है। राजा नृग ने एक ब्राह्मण को एक गाय दान दी, वह गाय पुनः राजा की गोमंडली में आन मिली। राजा ने अज्ञानवश वह गाय पुनः उस गो-मंडली के साथ दूसरे ब्राह्मण को दान दे दी। पूर्व ब्राह्मण ने अपनी गाय को खोज लिया, और दोनों ब्राह्मण विवाद करते हुए राजा नृग के पास गये, और क्रुद्ध ब्राह्मणों ने राजा को कृकलास (गिरगिट) योनि प्राप्त होने का शाप दिया। दान में दी हुई वस्तु को पुनः दान करना शास्त्र विरुद्ध आचरण है। यह कथा वाल्मीकि रामायण में ४।५५।१६-२१, महाभारत अनुशान-पर्व में ७०।१३-२७। तथा भागवत में भी १०।६४ मिलती है, यत्र तत्र किंचित् भेद है। इस ग्रंथ का मुख्य विषय ब्रह्मविद्या है, अतः संक्षेप में कथा दे दी गई है।

लक्ष्मण जी का इन कथाओं के श्रवण से मोह नष्ट नहीं हुआ, क्योंकि अविद्याजनित मोह विद्या से नाश होता है, इतिहास की पुण्यापुण्य कथाओं से नहीं ॥२॥

कदाचिदेकान्त उपस्थितं प्रभुं
रामं रमालालितपादपङ्कजम्।

सौमित्रिरासादितशुद्धभावनः
प्रणम्य भक्त्या विनयान्वितोऽब्रवीत् ॥३॥

अर्थ--कभी प्रभु रामजी को जिन के चरणों की सीता जी ने सेवा की थी एकान्त में पाकर विनयपूर्वक श्रद्धा से प्रणाम कर के शुद्ध अन्तःकरण वाले लक्ष्मण ने इस प्रकार कहा ।

व्याख्या---ब्रह्मविद्याभिलाषी सद्शिष्य में जो गुण होने चाहियें वे सब लक्ष्मण जी में वर्तमान दिखाते हैं, तथा सद्गुरु के समीप गमन-विधि भी दर्शाते हैं ।

कदाचित्---किसी काल में, शुभ अवसर देख कर, जब गुरु प्रसन्नचित्त हो तब, प्रत्येक काल में नहीं, एकान्ते---अन्यजनविहीन, कोलाहल विक्षेपादि से रहित स्थान में, ब्रह्मविद्या अतिसूक्ष्म और गोपनीय तत्त्व है अतः इस की चर्चा जहाँ तहाँ अनधिकारियों के बीच में नहीं हो सकती । उपनिषद्, ब्रह्मविद्या सम्बन्धी वेदभाग, को आरण्यक भी कहते हैं, क्योंकि इन का अध्ययन मनन एकान्त कोलाहल-रहित वन में होता है उपस्थितम्---प्राप्त हुए रमालालितपादपंकजम्---लक्ष्मीजी, अर्थात् सीता जी से सेवा की गई है जिनके चरणकमलों की ऐसे प्रभुम् रामम्---राजा, ईश्वर, सद्गुरु राम जी को । लक्ष्मणजी रामजी को ब्रह्मविद्या के आचार्य जानते थे जैसे कि अगले श्लोक की स्तुति, ('त्वम् शुद्धबोधोऽसि') इत्यादि से ज्ञात होता है । अब शिष्य की योग्यता बताते हैं । आसादित शुद्धभावनः---प्राप्त हो गया है शुद्ध अन्तःकरण जिस को, ऐसे लक्ष्मणजी को, भगवान राम की दीर्घकाल तक, १४ वर्ष वनवासकाल में निष्काम सेवा करने से तथा अयोध्या में लौटने के अनन्तर निष्काम वर्णाश्रमधर्मकर्मानुष्ठान से लक्ष्मणजी का अन्तःकरण रागद्वेष रहित, शुद्ध हो गया था, तथा धर्माधर्म विवेचिनी सत्कथाओं के श्रवण से उनका अन्तःकरण स्थिर भी हो गया था, 'शुद्ध' शब्द उपलक्षणा से कहा गया है, इसमें स्थिर का अर्थ भी निहित है । निष्काम कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध, उपासना से स्थिर

तथा ज्ञानोपदेश से सूक्ष्म होता है, शुद्ध–स्थिर-सूक्ष्म अन्तःकरण, बुद्धिवृत्ति ब्रह्मविद्या को ग्रहण करने में क्षम होती है। अब गुरु को प्रसन्न करने का प्रकार बताते हैं—

विनयान्वितः भक्त्या प्रणम्य—विनय से युक्त, अहंकार रहित, उद्दंड नहीं, श्रद्धापूर्वक, यह गुरु है इस बुद्धि से प्रणाम करके **सौमित्रिः अब्रवीत्**—सुमित्रा के पुत्र लक्ष्मणजी ने कहा। इस से सूचित होता है कि रामजी ब्रह्मविद्या के उपयुक्त वक्ता हैं, और लक्ष्मणजी उपयुक्त श्रोता। यहां तक तीन श्लोकों में मंगलाचरण समाप्त होता है ॥३॥

ग्रंथ के तीन अनुबन्ध होते हैं। कुछ आचार्य चार भी मानते हैं। (१) अधिकारी—इस ग्रंथ को पढ़ने का किस को अधिकार है? किस प्रकार का साधक इस ग्रंथ के पठन से लाभ उठा सकता है? (२) विषय—इस ग्रंथ का विषय क्या है? (३) प्रयोजन—इस ग्रंथ का प्रयोजन क्या है?

इस श्लोक में 'आसादित-शुद्धभावनः' कह कर अधिकारी के लक्षण संक्षेप में दिये हैं। साधन चतुष्टय सम्पन्न जीव अधिकारी है। विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता—ज्ञान के ये चार साधन हैं। इन का विशिष्ट विवरण भगवानभाष्यकार रचित 'विवेक-चूडामणि' पर हमारी लिखी सप्त-प्रकरणी ओंकारी प्रदीपिका अथवा 'अपरोक्षानुभूतिः' पर लिखी चन्द्रकान्त प्रदीपिका में देखें। अधिकारी विवेचन प्रथम अनुबन्ध है।

सौमित्रिरुवाच—

त्वं शुद्धबोधोऽसि हि सर्वदेहिना-
मात्माऽस्यधीशोऽसि निराकृतिः स्वयम्।
प्रतीयसे ज्ञानदृशां महामते
पादाब्जभृङ्गाहितसङ्गसङ्गिनाम् ॥४॥

अर्थ—लक्ष्मणजी बोले—हे सर्वज्ञबुद्धि राम! तुम शुद्ध-

ज्ञानरूप हो, अतः तुम सव प्राणियों की आत्मा हो, तुम सव के ईश्वर हो, स्वरूप से निराकार हो तो भी ज्ञाननेत्रवालों के अनुभव में आते हो, तुम्हारे चरणकमलों में भ्रमर की भाँति लगाया है अन्तःकरण जिन्होंने उन को भी प्रतीत होते हो।

व्याख्या——उपयुक्त देश काल देखकर अव लक्ष्मणजी ब्रह्मज्ञ ईश्वर रामजी की स्तुति करते हैं। यह स्तुतिभाग ज्ञातव्य पूछने की भूमिका हैं। **सौमित्रिः उवाच**——सुमित्रा के पुत्र लक्ष्मणजी ने कहा हे **महामते !** हे महान, सर्वज्ञ बुद्धिवाले रामजी हि—निश्चय ही **त्वम् शुद्धबोधः असि**—तुम निर्मल ज्ञान प्रकाशरूप हो, उपाधिशून्य ज्ञानरूप हो, चितिमात्र हो, अनवच्छिन्न चैतन्य हो, 'साक्षी चेता' इति श्रुतिः, श्वेताश्वतर ६।११ ब्रह्म साक्षी और चितिरूप है अतः **सर्वदेहिनाम् आत्मा असि**—सव प्राणियों की तुम आत्मा हो। सव जीव आप के अंश होने से आप उन की आत्मा हो, अंश अंशी में अभेद होता है। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' गीता १५।७। मनुष्यलोक में जीव मेरा ही अंश है। 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' गीता १०।२०। हे अर्जुन ! समस्त भूतों के अन्तर्हृदयदेश में स्थित सव का अन्तरात्मा मैं हूँ। तुम सव नामरूपधारी प्राणियों के सर्वाधिष्ठान आत्मा हो।

अधीशः असि——अज्ञानियों के संवन्ध से तुम सव के ईश्वर हो। 'तं ईश्वराणां परमं महेश्वरम्' इति श्रुतिः श्वेताश्वतर ६।७। उस ईश्वरों के भी परम महेश्वर को हम जानें। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है, 'सर्वलोकमहेश्वरम्' मैं सर्वलोक का महान् ईश्वर, ५।२९ 'भूतानां ईश्वरः' गीता ४।६। मैं भूतों का ईश्वर 'भूतमहेश्वरम्' गीता ९।११। मैं सव भूतों का महान ईश्वर हूँ। सव देहधारियों के अन्तर्यामी, सव के हृदय में विराज कर नियंत्रण करनेवाले नियन्ता हो, पर मुख्यतः **स्वयम् निराकृतिः**——परमार्थ स्वरूप से निराकार, अमूर्त्त, निरवयव हो, स्थूल-सूक्ष्म-कारण उपाधियों से शून्य हो। यदि निराकार है, तो दर्शन कैसे होंगे ? कहते हैं **ज्ञानदृशाम् प्रतीयसे**——वेदान्त महावाक्यों से उत्पन्न जो ज्ञान वही ही दृग, नेत्र, दर्शन-साधन, ब्रह्माकारवृत्ति, ऐसे ज्ञानचक्षुवालों से, यहाँ षष्ठी विभक्ति में

तृतीया का अर्थ लिया जायेगा, उन से तुम्हारा स्वरूप जाना जाता है, अनुभव किया जाता है। और कैसों से आप का निराकार स्वरूप देखा जाता है ? **पादाब्ज-भृङ्गाहित-संग-संगिनाम्**-आप के चरणकमलों में भौंरे के सदृश लगाया है अन्तःकरण जिन्होंने, उनसे, अर्थात् अभेद उपासक, मुमुक्षु भक्तगण से भी आप के दर्शन किये जा सकते हैं। इस में भगवान कृष्ण के वचनों का गीता में प्रमाण है,

'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।१२।३।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।१२।४।।

जो अक्षर, अलिंग, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, अक्रिय, अचल, नित्य, ब्रह्म की उपासना करते हैं, तथा जो इन्द्रियों के समुदाय को भली प्रकार संयम करके सब काल में सम-बुद्धिवाले होते हैं, ऐसे वे समस्त भूतों के हित में तत्पर मुझे ही प्राप्त होते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि सांख्यों (विचारकों) तथा योगियों (अभेद निर्गुण अथवा सगुण उपासकों) दोनों को ब्रह्मज्ञान हो सकता है। योगियों को दीर्घ काल तक साधना करनी पड़ती है।

अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुजं प्रभो
भवापवर्गं तव योगिभावितम् ।
यथाऽञ्जसाऽज्ञानमपारवारिधिं
सुखं तरिष्यामि तथाऽनुशाधि माम् ।।५।।

अर्थ—हे स्वामिन् ! मैं आप के चरणकमलों में, जो कि भवबंधन से छुटानेवाले हैं तथा योगिजन जिन का हृदय में ध्यान लगाते हैं, शरणागत हूँ। जिस प्रकार अज्ञान महासागर से मैं शीघ्रता से तथा सुगमता से पार हो सकूं उस प्रकार मुझे उपदेश दीजिये।

व्याख्या—पूर्व श्लोक में लक्ष्मणजी ने रामजी की स्तुति की है। स्तुति के दो प्रयोजन हैं। एक तो शिष्य अपनी अव्यभिचारिणी श्रद्धा दिखाता है, और दूसरे गुरु को सम्मुख करने के लिये अनुकूल वातावरण बनाता है। अब इस श्लोक में लक्ष्मणजी अपनी पूर्ण शरणागति दर्शा कर अपना ज्ञातव्य निवेदन करते हैं। यही ज्ञातव्य इस ग्रंथ का आधारशिला श्लोक है।

हे प्रभो !—स्वामिन्, मेरे मोह निवारण में समर्थ **भव-अपवर्गम्**—संसार से निवृत्त करने वाले, संसार दुःख से छुटा कर मोक्ष पद देने-वाले अतः **योगिभावितम्**—योगियों, मुमुक्षुओं द्वारा जिन चरण-कमलों का हृदय में ध्यान किया जाता है, ऐसे **तव पदाम्बुजम्**—आप के चरणकमलों की **प्रपन्नः अस्मि**—शरण में मैं प्राप्त हूँ, अर्थात्, मैं शरणागत हूँ, अव्यभिचारिणी भक्ति से। छलछिद्ररहित शरणागति के विना ब्रह्मवेत्ता का मुख ज्ञानोपदेश के लिये नहीं खुलता।

अब लक्ष्मणजी अपना प्रयोजन निवेदन करते हैं। **अज्ञानम् अपारवारिधिम्**—अज्ञान, अविद्या, मोह जो कि एक आदि अन्त-रहित अपार सागर के सदृश है, और संसार का मूल कारण है, उसको **यथा अञ्जसा सुखम्**—जिस प्रकार भी मैं शीघ्रता से तथा सुगमता से **तरिष्यामि**—पार कर सकूंगा **तथा माम् अनुशाधि**—उसी प्रकार मुझे उपदेश करें। इस भीमभवार्णव को मैं अपने सामर्थ्य से पार नहीं कर सकता, अतः आप सद्गुरु के चरणों का आश्रय लिया है। जैसे अनुभवी केवट अपनी नौका को सावधानी से, विना दुर्घटना के, नदी के पार ले जाता है, वैसे ही आप मुझे ऐसा उपाय बतायें जिस के अनुसरण से थोड़े काल में क्लेशरहित मैं अज्ञानसागर से तर जाऊँ, भवबन्धन से छूट जाऊँ।

'अञ्जसा' कहने से यह ध्वनित होता है कि मुझे दीर्घ विस्तृत साधना प्रणाली नहीं चाहिये। क्योंकि मैं तीव्र मुमुक्षु हूँ, और विलम्ब मेरे लिये असह्य है, और 'सुखम्' से प्रगट होता है कि मुझे क्लेशप्रद हठयोगादि की साधना भी नहीं चाहिये क्योंकि वे मेरी अवस्था और रुचि के अनुसार नहीं होंगे।

श्रुत्वाऽथ सौमित्रिवचोऽखिलं तदा
प्राह प्रपन्नार्तिहरः प्रसन्नधीः ।
विज्ञानमज्ञानतमोपशान्तये
श्रुतिप्रपन्नं क्षितिपालभूषणः ॥६॥

अर्थ—लक्ष्मणजी के वचन पूरी तरह सुनने के उपरान्त शरणागत का कष्ट हरनेवाले, नृपों में आभूषण के तुल्य, प्रसन्नचित्त रामजी ने उत्सुक कर्णोंवाले लक्ष्मणजी को अज्ञानरूप अन्धकार का शमन करने के लिये अनुभवयुक्त ज्ञान कहा ।

व्याख्या—**अथ सौमित्रिः वचः अखिलम् श्रुत्वा**—इस प्रकार लक्ष्मणजी के वचन, स्तुति और प्रार्थना, पूर्णरूप से ध्यान पूर्वक सुन कर, 'अथ' शब्द से विषयान्तर की ओर संकेत है अर्थात् लक्ष्मणजी की वाणी समाप्त होती है और रामजी का उत्तर आरम्भ होने वाला है । 'अखिलम्' कहने से रामजी ने लक्ष्मणजी के अधिकारी होने का भी निर्णय कर लिया है । कैसे हैं रामजी ? **प्रपन्नार्त्तिहरः**—शरणागत का कष्ट निवारण करनेवाले । लक्ष्मणजी को वैभवों की वांछा नहीं है, उनको अपने अज्ञान के नाश करने की इच्छा है, जैसे पूर्व में कहा है 'यथाऽञ्जसाऽज्ञानमपारवारिधिं सुखं तरिष्यामि', अतः ब्रह्मज्ञान के उपदेश से अज्ञानतम हरनेवाले **क्षितिपालभूषणः**—राजाओं में आभूषण, नृपशिरोमणि, प्रसंगवश से ज्ञानदाताओं में श्रेष्ठ **प्रसन्नधीः**—निर्मल बुद्धि, रागद्वेष रहित, भ्रमादिरहित, स्थितप्रज्ञ, लक्ष्मणजी द्वारा की गई 'त्वं शुद्धबोधोऽसि . . .'इत्यादि स्तुति से प्रसन्नचित्त, गुरु को प्रसन्नचित्त पाकर शिष्य का उत्साहवर्धन होता है

तदा—इसके उपरान्त **श्रुतिप्रपन्नम्**—तीव्रमुमुक्षु होने से लक्ष्मणजी के कान रामजी के अमृतवचन, अज्ञानभंजनकारी गिरा सुनने के लिए आतुर थे, उत्सुक कर्णोंवाले लक्ष्मणजी को, अथवा श्रुति, उपनिषद् वाक्य जिन के सुनने और मनन करने से प्रपन्न अर्थात् जो फलरूप से जाना जाये, बोधित हो ऐसा आत्मज्ञान, उसको । श्रुतियां इस प्रकार

हैं, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' श्वेताश्वतर ३।८। ब्रह्म को जान कर मृत्यु को पार हो जाता है 'आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्न न विभेति कुतश्चन' तैत्तिरीय श्रुतिः २।६ 'विद्ययाऽमृतमश्नुत' इति श्रुतिः, ब्रह्मविद्या से अमरपद प्राप्त होता है, श्रुतियों से जो बोधित हो, श्रुतिगम्य **प्राह**—कहा, क्या कहा ?

विज्ञानम्—आत्मतत्त्वज्ञान, सर्वसुखसाधिनी सर्वदुःखहारिणी ब्रह्मविद्या, यह दूसरा अनुबन्ध विषय है, इस ग्रंथ का विषय श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित जीव ब्रह्म की एकता दिखाना है जिसका साक्षात्कार होने पर अत्यन्त सुख की प्राप्ति और दुःख की अत्यन्त निवृत्तिरूप मोक्षपद प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञान इस ग्रंथ का विषय है **अज्ञानतमः उपशान्तये**—अज्ञानरूप अन्धकार शमन करने के लिये, सुख से और शीघ्रता से भवसागर, जिस का कि आदि कारण अज्ञान है, पार करने के लिये। यह तीसरा अनुवन्ध प्रयोजन है। अज्ञाननिवृत्ति इस ग्रंथ का प्रयोजन है, अधिकारी मुमुक्षुवर्ग का, इतना जोड़ लेना चाहिये ।।६।।

श्रीराम उवाच—

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः
कृत्वा समासादितशुद्धमानसः ।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः
समाश्रयेत्सद्गुरुमात्मलब्धये ।।७।।

अर्थ—श्रीराजी बोले—पहले अपने वर्णाश्रमधर्म का अनुष्ठान करके शुद्ध अन्तःकरणवाला होकर, फिर कर्मसंन्यास कर के ज्ञानसाधन युक्त हुआ ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के लिये जाये।

व्याख्या—श्रीरामः उवाच—श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु श्री रामजी बोले **आदौ**—पहले, ब्रह्मजिज्ञासा आरम्भ होने से पहले **स्व-वर्णाश्रम-वर्णिताः क्रियाः**—शरीर संबंधी जो धर्म, शास्त्रों में विविध वर्णों और

आश्रमों के लिये कर्तव्य वर्णन किये गये हैं, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये चार वर्ण हैं, ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास ये चार आश्रम, प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लिये श्रुति स्मृतियों में विशेष धर्म निर्दिष्ट किये गये हैं, उनको **कृत्वा**––वर्णाश्रमधर्मकर्मानुष्ठान कर के, शास्त्रसम्मत निष्काम कर्मानुष्ठान से ज्ञान साधनों की प्राप्ति होती है, इन से ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के साधन विवेक वैराग्यादि जुट जाते हैं

वर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ।। अपरोक्षानुभूतिः।।३।।

वर्णाश्रमधर्म पालन, तप और प्रभु की उपासना से साधकों को वैराग्यादि ज्ञान के चार साधन प्राप्त हो जाते हैं ।

समासादितशुद्धमानसः––निष्काम नित्य कर्म, सन्ध्योपासन यज्ञ दान तपादि कर्म जो कि ज्ञान के वहिरंग सहकारि साधन हैं इनको करने से ज्ञान के शमदमादि सूक्ष्म वहिरंग साधन प्राप्त होते हैं और मन, अन्तःकरण शुद्ध और स्थिर हो जाता है, अन्तः करण के शुद्ध स्थिर होने पर **समाप्य तत्पूर्वम्**––पूर्वोक्त कर्मानुष्ठान त्याग कर, अर्थात् कर्मफल त्याग कर, क्योंकि आगे कहेंगे 'ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत् क्रियाः' परमात्मा का साक्षात्कार होने के उपरान्त क्रिया त्यागे, **उपात्तसाधनः**––विवेकवैराग्यादि साधन चतुष्टय से सम्पन्न होकर **सद्गुरुम् समाश्रयेत्**––आप्तकाम, अकाम श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाये, विद्वान् होने पर भी सद्गुरु से मार्ग दर्शाये विना आत्मानुसन्धान न करे, 'शास्त्रज्ञोऽपि स्वातंत्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्', भगवान शंकराचार्य । क्योंकि शास्त्र कथित तत्त्वंपदार्थ शोधन से बोध नहीं होता, सद्गुरु की शरण में जाये विना वेदान्त के गूढ़ रहस्य नहीं खुलते हैं । ब्रह्मज्ञान के लिये सद्गुरु शरणाति अनिवार्य है । 'आचार्यवान् पुरुषो वेद ।' छान्दोग्य० ६।१४।२ जिसके गुरु हैं उसी को बोध होता है । अ, आ सिखानेवाला भी गुरु है, और ऐसे अनेक गुरु होते हैं, परन्तु ब्रह्मविद्या का उपदेश देनेवाला सद्गुरु कहलाता है, और वह एक ही होता है । वेद भगवान का कथन है कि

जिस को स्वयं ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हुआ है, ऐसे गुरु के उपदेश से ब्रह्मज्ञान नहीं होता, 'न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयः', कठोपनिषद १।२।८ जिस को स्वयं साक्षात्कार नहीं हुआ है ऐसे पुरुष के उपदेश से ब्रह्मज्ञान नहीं होता। सद्गुरु की शरण में क्यों जाये आत्मलब्धये—ब्रह्मज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश करके स्वात्मस्वरूप में अवस्थान के लिये, आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये जिस से कि 'अञ्जसाऽज्ञानमपारवारिधिं सुखं तरिष्यामि।'

यहाँ तक ज्ञान के वहिरंग साधन वताये हैं। श्रवण, मनन निदिध्यासन ये ज्ञान के अन्तरंग साधन हैं। श्रवण का अर्थ है गुरु-मुख से वेदान्त प्रक्रिया का श्रवण करना कि वेदों का अभिप्राय जीव ब्रह्म की एकता प्रतिपादन करने में है। इस प्रक्रिया पर अपनी युक्तियों द्वारा विचार करना मनन कहलाता है, और मनन किये हुए का पचाना, अभ्यास करना, निदिध्यासन, ब्रह्माभ्यास कहलाता है। अभ्यास के परिपक्व होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है, यही कैवल्य मोक्ष है। यहीं से मुख्यग्रंथ का श्रीगणेश हुआ है ।।७।।

क्रियाशरीरोद्भवहेतुरादृता, प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं, पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः ।।८।।

अर्थ—शरीर उत्पत्ति के लिये कर्म का आदर है। पुण्यपाप कर्मों के शुभाशुभ फल देहाभिमानी को होते हैं। कर्मों से पुनः जन्म होता है, शरीर से फिर कर्म होते हैं यह संसार चक्र की भांति भ्रमण करता है।

व्याख्या—आप ने पूर्व श्लोक में कहा है 'समाप्य तत्पूर्वम्' कि पहले क्रिया, कर्म का त्याग करे। यदि ऐसा है तो कर्म में दोष क्या है ? इस शंका को दृष्टि में रख कर आगे कहते हैं।

शरीर-उद्भव-हेतुः क्रिया आदृता—शरीरोत्पत्ति के लिये कर्म की मान्यता है। कर्म स्वभाव से ही वन्धनकारी है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं; क्रियमाण अथवा प्रस्तुत कर्म, संचित—जो कर्म किये जा चुके हैं, परन्तु फलोन्मुख नहीं हुए हैं और अगले जन्म के शरीरोत्पत्ति के आरम्भक हैं, प्रारब्ध—पूर्व जन्म के जो कर्म हैं जिनके फलस्वरूप प्रस्तुत जन्म हुआ है। यह शरीर प्रारब्धकर्मानुरूप प्राप्त हुआ है। ✓यदि कर्म का वन्धनकारी अंश हरण कर लिया जाये तो वह कर्म भुने हुए चने की भाँति नूतन फल सृजन में असमर्थ होता है। जितने सकाम कर्म हैं, वे सब फलदायी हैं, ज्ञानवानों के शरीरों द्वारा जो कर्म सम्पादित होते हैं वे फलासक्ति और अहंकाररहित होने से नवीन फल देने में सक्षम नहीं होते अतः ऐसे कर्म अकर्म ही हैं। उन के कर्म नया प्रारब्ध न वना कर पूर्व प्रारब्ध कर्मों को ही भोग द्वारा क्षय करते हैं। इस जन्म का संचित कर्म अगले जन्म का आरम्भक प्रारब्धकर्म वन जाता है। यहाँ क्रिया का अर्थ सकाम कर्म लेना चाहिये।

धर्मेतरौ तौ प्रियाप्रियौ—सकाम कर्म भी दो प्रकार के होते हैं, धर्म कर्म—पुण्य कर्म, यज्ञदानादि तथा धर्मकर्म से भिन्न अर्थात् पाप कर्म, शास्त्र निषिद्ध कर्म, हिंसा चोरी आदि। पुण्य कर्मों के प्रभाव से स्वर्गादि उच्चलोक, देवगंधर्वादि योनियां, मिलती हैं, और पापकर्मों से अधःलोक, कीट पतंग पशु आदि की योनि प्राप्ति होती है, और पुण्य पाप मिश्रित कर्मों से मनुष्य योनि मिलती है। धर्माधर्म कर्मों से प्रिय-शुभ, अप्रिय-अशुभ फल मिलते हैं। **सुरागिणः भवतः**—ये दो प्रकार के कर्मफल रागद्वेष से प्रेरित होकर कर्म करने वालों को होते हैं **तत्र पुनः शरीरकम्**—इन वन्धनकारी कर्मों के फल भोगने के लिये मर कर फिर जन्म होता है, क्षुद्र देह प्राप्त होता है, **पुनः क्रिया**—शरीर प्राप्त होने पर जीव फिर 'धर्मेतरौ' कर्म करता है, और 'प्रियाप्रियौ' फल पाता है। संचित कर्म ही फलोन्मुख हो कर प्रारब्ध वन कर संसार में नया जन्म देते हैं।

चक्रवत् भवः ईर्यते—इस प्रकार संसार चक्र की भाँति घूमता है, अर्थात् संसार से निवृत्ति नहीं मिलती, 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं

पुनरपि जननीजठरे शयनम्' मोहमुद्गर ।२१। फिर जन्म, फिर मृत्यु, फिर जन्म इस प्रकार संसार का अनन्त प्रवाह चलता रहता है। कर्म से अन्त नहीं। यहाँ रामजी ने मोक्ष के लिये कर्म का अहेतुत्व निरूपण किया है। एक कर्म दूसरे कर्म का उत्पादन करता है, और कोटि कर्म राशि से भी मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। भगवान का ऐसा उपदेश सुन कर लक्ष्मणजी के मन में शंका हुई कि संसार की निवृत्ति कैसे हो, इस पर रामजी आगे कहते हैं ॥८॥

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं, तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी, न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्॥९॥

अर्थ—निश्चय ही इस संसार का मूलकारण अज्ञान ही है, मेरे उपदेश में अज्ञान नाश की विधि वताई जाती है। केवल ब्रह्मज्ञान ही अज्ञान के नाश करने में कुशल है, कर्म जो कि अज्ञान से उत्पन्न होता है अज्ञान का विरोधी नहीं है।

व्याख्या—**हि**—क्योंकि **अस्य**—इस दुःखमय संसार का, आदि अन्तरहित कर्मक्षेत्र का **अज्ञानम् एव मूलकारणम्**—अपने स्वरूप का अज्ञान ही प्रधान कारण है, अज्ञान को माया, अविद्या प्रकृति आदि नामों से भी कहा जाता है। अतः संसारनिवृत्ति के लिये उस के आदि कारण का नाश करना चाहिये जिस से भव का उदय न हो सके और उस के अभाव में नाना कर्म समुदाय,जो जन्ममरण के हेतु हैं, न वन सकें, क्योंकि कर्म की महत्ता शरीर प्राप्ति में है। 'एव' कहने से भवोत्पत्ति के अन्यकारणों का निराकरण कर दिया गया है,'अज्ञानात्प्रभवं सर्वम्' अपरोक्षानुभूतिः ॥१४॥ यह सव जगत् अज्ञान से उत्पन्न हुआ है, इस का कोई अन्य कारण नहीं है **अत्र विधौ**—मेरे इस उपदेश में, संसार नाश लक्षण वाले कर्त्तव्य, विधि में **तत् हानम् एव विधीयते**—अज्ञान नाश का ही विधान वताया जाता है, 'एव' शब्द से ध्वनित होता है कि इस प्रकार का नाश विधान वताया जायेगा कि नाश के उपरान्त फिर किसी दशा में भी अज्ञान की उत्पत्ति न हो सके। रामजी की ऐसी

प्रतिज्ञा सुन कर लक्ष्मणजी सावधान हो जाते हैं। **विद्या एव**–ब्रह्म-ज्ञान ही, 'एव' शब्द से कर्म उपासना का निवारण करते हैं। आगे श्लोक १५ में रामजी कहेंगे कि विद्या किसे कहते हैं? 'विशुद्ध-विज्ञानविलोचनाञ्चिता विद्यात्मवृतिश्चरमेति भण्यते' निर्मल वेदान्तवाक्यों के विचार से जो अन्तकरण की चरम (अतिसूक्ष्म) वृत्ति प्राप्त होती है उसे विद्वान लोग विद्या कहते हैं। अर्थात् अन्तःकरण की ब्रह्मकार वृत्ति जो कि निर्विकल्प समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है, जीव और ब्रह्म की एकता का यथार्थ अनुभव कराती है, उसे विद्या, ब्रह्मज्ञान वृत्ति अथवा ज्ञान कहते हैं।

अन्तःकरण के परिणाम को वृत्ति कहते हैं। अपंचीकृत भूतों—आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथ्वी ये पंच भूत अथवा महाभूत कहलाते हैं—के सत्त्वांश से अन्तःकरण निर्मित होता है। इस की मुख्यतः चार वृत्तियाँ होती हैं : मन—अन्तकरण की संकल्प-विकल्पात्मक वृत्ति, वुद्धि—अन्तःकरण की निर्णयात्मक वृत्ति, चित्त—अन्तः-करण की इष्ट चिन्तन वृत्ति, स्मृति, तथा अहंकार देहेंन्द्रियप्राणादि में अहंतावृत्ति। मल विक्षेप तथा आवरण के कारण वृत्तियों का उत्थान पतन होता है, अतः वृत्ति वहुत चंचल होती है। विवेक, वैराग्य शमदमादि षट् सम्पत्ति, और मुमुक्षता इन ज्ञान साधनों और ब्रह्म ज्ञान के अभ्यास से वृत्ति में शुद्धि, स्थिरता तथा सूक्ष्मता आती है, तव वृत्ति वासनादि के अभाव में चञ्चलतारहित होकर ब्रह्म का विषय करती है जिस के उपरान्त सर्वज्ञानजिज्ञासा, कर्तव्यभावना, भव-वन्धनादि समाप्त हो जाते हैं, और नर से अविनाशी नारायणपद प्राप्त होता है, कैवल्य मोक्ष सिद्ध होता है। **तत् नाशविधौ पटीयसी**–

ब्रह्मज्ञान ही, कर्म नहीं, उस अज्ञान के नाश करने में समर्थ है, **कर्म तज्जम्**–कर्म अज्ञान से उत्पन्न होता है। अज्ञान से संसार उत्पन्न होता है, उसमें जीव की उत्पत्ति होती है, और जीव से धर्माधर्म कर्म वनते हैं, अतः कर्म भी अज्ञान जन्य होने से अपने कारण अज्ञान का नाश नहीं कर सकता, अज्ञान के नाश के लिये उस से विरुद्ध धर्मवाला ज्ञान चाहिये, जैसे मूषक निवारण के लिये उस का विरोधी मार्जार

चाहिये। मिट्टी का कार्य घट अपने कारण मिट्टी का नाश नहीं कर सकता, 'तज्जम्' होने से।

न सविरोधम् ईरितम्——कर्म अज्ञान का विरोधी नहीं कहा गया है, अज्ञान का विरोधी ज्ञान है, अतः ज्ञान ही अज्ञान का, नाश कर सकता है, कर्म और उपासना नहीं। किसी गिरिकन्दरा में एक सहस्र वर्ष से अन्धकार है, अन्धकार का विरोधी प्रकाश करने से अन्धकार तत्क्षण नष्ट हो जायेगा अन्य उपाय, घंटी वजाने अथवा करमाला फेरने से नहीं ॥६॥

नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो
भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत् ।
ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता
तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान्भवेत् ॥१०॥

अर्थ——कर्म से अज्ञान का नाश नहीं, और न ही उस से आसक्ति की हानि होती है, वल्कि उस से नूतन बंधनकारी कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्म से फिर संसार की भी निवृत्ति नहीं होती। इस लिये मुमुक्षु ज्ञानविषय पर विचार करे।

व्याख्या——श्लोक ८ में कर्म से अनर्थों की परम्परा वताई है, 'तत्र पुनः शरीरकं पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः।' अव इस श्लोक के प्रथम तीन चरणों में कर्म की अन्य क्षमता वता कर चौथे चरण में उपसंहार करते हैं। **ततः**——कर्म से **अज्ञानहानिः न**——अज्ञान का नाश नहीं होता, क्योंकि कर्म का और अज्ञान का विरोध नहीं है, कार्य कारण होने से, **न च रागसंक्षयः भवेत्**——और न ही आसक्ति, राग का——देह में अहंता, सुतदारागृहादि में ममता का नाश होता है। विषयों में सत्यबुद्धि होने से उन में अनुराग, प्रतिकूल वस्तुओं में द्वेष——इन का नाश नहीं होता है। जव तक देह में आत्मबुद्धि रहेगी तव तक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध विषयों में, देह गेह में राग रहेगा। कर्म से न केवल अज्ञान और

राग का ही नाश संभव नहीं, वल्कि उस से एक अन्य अनर्थ भी होगा, वह क्या ? **सदोषम् कर्म उद्भवेत्**—दोषयुक्त नूतन कर्म भी उत्पन्न होगा, दोष क्या ? एक तो कर्म का फल नाशवान है, और दूसरे, एक कर्म के भोग से दूसरा बंधनकारी कर्म बनता है जिस से कि कर्म की अनन्त तारतम्यता आरम्भ हो जायेगी **ततः पुनः**—अज्ञान और राग के अनाश से तथा सदोष कर्मोत्पत्ति से **संसृतिः अपि अवारिता**—संसार भी अवारित ही रहेगा, अर्थात् उस की भी निवृत्ति नहीं होगी, 'चक्रवदीर्यते भवः', कर्म से जन्म होगा, जन्म से क्रियायें होंगी, और उन के शुभाशुभ फलरूप ऊँची नीची योनियों में पुनः जन्म होगा, यह अनर्थ-शृंखला अन्त को प्राप्त नहीं होगी, अब उपसंहार करते हैं **तस्मात्**—इस लिये इस अनर्थजाल को देख कर **बुधः**—विवेकशील साधक **ज्ञानविचारवान् भवेत्**—ज्ञान विषय पर विचार करे, क्यों कि जैसे पूर्व में कहा है, 'विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी।' ज्ञान ही अज्ञान का नाश करने में कुशल है। जैसे प्रकाश के विना कभी भी पदार्थ का भान नहीं हो सकता वैसे ही विचार के विना अन्य साधनों से ज्ञान नहीं हो सकता ॥१०॥

ननु क्रिया वेदमुखेन चोदिता
यथैव विद्या पुरुषार्थसाधनम् ।
कर्तव्यता प्राणभृतः प्रचोदिता
विद्यासहायत्वमुपैति सा पुनः ॥११॥

अर्थ—निश्चय ही जैसे वेदमुख से ब्रह्मविद्या मोक्ष का साधन कहा गया है वैसे ही कर्म भी प्राणधारी के लिये कर्तव्यरूप से कहा गया है। फिर वह कर्म ब्रह्मविद्या का मोक्ष में सहायक होता है।

व्याख्या—हम ने मान लिया कि केवल कर्म से अज्ञान का नाश नहीं होता परन्तु हमारा कहना है कि कर्म और ज्ञान दोनों के समुच्चय से अज्ञान नाश होता है। ज्ञान और कर्म दोनों से मिल कर अज्ञान

का नाश होता है, और मुक्ति होती है। ऐसा समुच्चयवादियों का मत है। इस मत को तीन श्लोकों में विशद करते हैं। अर्थ की स्पष्टता के लिये तथा प्रसंग वल से आगे आनेवाले श्लोक १४ का प्रथम चरण यहाँ जोड़ लेना चाहिये अर्थात् 'केचित् वदन्ति इति वितर्कवादिनः' कोई कोई वितर्कवादी (समुच्चयवादी) इस प्रकार कहते हैं कि ननु—निश्चय ही **यथा एव वेदमुखेन विद्या पुरुषार्थसाधनम् चोदिता**—जैसा ही वेदभगवान ने ज्ञान को मोक्ष का साधन कहा है, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' तैत्तिरीयोपनिषद् २।१। ब्रह्मवेता ब्रह्म को प्राप्त होता है, 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इति श्रुतिः। ज्ञान के विना मुक्ति नहीं। 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' मुण्डकोपनिषद ३।२।६ ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है, इत्यादि श्रुतियों में ज्ञान से मोक्ष कहा है।

(तथा एव) क्रिया—वैसे ही वेद भगवान ने अपने मुख से क्रिया, कर्म को भी परमपुरुषार्थरूप मोक्षसाधन कहा है। 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इति श्रुतिः। चातुर्मास्य यज्ञ करनेवाला सुकृती होता है और नाशरहित अक्षयफल पाता है, अर्थात् रागद्वेष युक्त कर्म करनेवालों को भी श्रुति क्षयरहित फल, मोक्ष कहती है। इस संबंध में वसिष्ठजी का भी प्रमाण देते हैं।

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्माभ्यां प्राप्यते ब्रह्मसाधनम्॥

योगवासिष्ठ

जैसे दो पंखों से ही पक्षियों की आकाश में गति होती है वैसे ही ज्ञान और कर्म से ब्रह्मसाधन प्राप्त होते हैं। 'ब्रह्मसाधनम्' की जगह अन्य पाठ 'ब्रह्म केवलम्' भी है, अर्थात् एकतत्त्व ब्रह्म प्राप्त होता है। इस प्रकार **प्राणभृतः**—जीव के लिये, प्राणधारी के लिये **कर्तव्यता प्रचोदिता**—कर्म करने की अनिवार्यता कही गई है, अर्थात् नित्य नैमित्तिक कर्म करने आवश्यक हैं, और न करने से प्रत्यवाय होगा, और मोक्ष नहीं होगा, इसलिये **सा**—क्रिया, वेदविहित कर्म **पुनः**—किये जाने पर **विद्या सहायत्वम् उपैति**—ज्ञान की प्राप्ति में विद्या का सहायक होता है: अतः ज्ञान और क्रिया से मुक्ति होती है, केवल ज्ञान से नहीं॥११॥

कर्माकृतौ दोषमपि श्रुतिर्जगौ
तस्मात्सदा कार्यमिदं मुमुक्षुणा ।
ननु स्वतंत्रा ध्रुवकार्यकारिणी
विद्या न किंचिन्मनसाऽप्यपेक्षते ॥१२॥

अर्थ—कर्म न करने पर श्रुति ने दोष भी गाया है। इसलिये मुमुक्षु से कर्म सदा किया जाना चाहिये। यदि आप कहो कि ब्रह्म-विद्या मोक्षफल देने में स्वतंत्र है, और मन से भी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करती, (अगले श्लोक से संवद्ध करो)।

व्याख्या—कर्म अकृतौ श्रुतिः दोषम् अपि जगौ—न केवल कर्म के विना अकेला ज्ञान मोक्षसाधन नहीं कर सकता वल्कि कर्म न करने पर श्रुति भगवती ने दोष भी गायन किया है, श्रुति ने क्या दोष वताया है, 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते, यावज्जीवमग्नि-होत्रं जुहुयात्।' इति श्रुतिः, जो पुरुष अग्निहोत्रादि कर्मों को त्याग देता है, नहीं करता है उस को इन्द्र की हत्या लगती है, इसलिये जब तक जीवे, आयु शेष न हो, अग्निहोत्र कर्मों को करे। **तस्मात्**—इस लिए, उपसंहार में कहते हैं **मुमुक्षुणा**—मोक्ष की इच्छावाले से **इदम्**—मोक्ष प्राप्ति में ज्ञान की सहकारिता के लिये कर्म **सदा कार्यम्**—सदा किया जाना चाहिये।

ननु—यदि आप यह कहो कि **विद्या स्वतंत्रा ध्रुवकार्यकारिणी**—मोक्षजनिका विद्या, ज्ञान स्वतंत्र है, अर्थात् ध्रुवकार्य—मोक्ष-सम्पादन में कर्मोपासना की अपेक्षा नहीं रखती। जैसे घट सृजन में दंडचक्रादि की आवश्यकता कुम्भकार को होती है, उस प्रकार विद्या को आत्म-लाभ के लिए कर्मोपासना साधनों की अपेक्षा नहीं होती। सूर्य को तिमिर नाश के लिये अन्य सहायकों की जरूरत नहीं होती उसी प्रकार विद्या को अज्ञान नाश के निमित्त **मनसा अपि न किंचित् अपेक्षते**—रंच मात्र भी, भूल कर भी किसी अन्य साधन की अपेक्षा

नहीं है। विद्या मोक्ष सम्पादन में परम स्वतन्त्र है। समुच्चय-वादी कहता है कि यदि आप की ऐसी धारणा है तो (अगले श्लोक से संबन्ध जोड़ो) ॥१२॥

न, सत्यकार्योऽपि हि यद्वदध्वरः
प्रकांक्षतेऽन्यानपि कारकादिकान् ।
तथैव विद्या विधितः प्रकाशितै-
र्विशिष्यते कर्मभिरेव मुक्तये ॥१३॥

अर्थ—यह ठीक नहीं, क्योंकि जैसे सत्यकार्य यज्ञ को भी दूसरे कारणों की आवश्यकता होती है, वैसे ही ब्रह्मविद्या को भी मोक्षसाधन में वेद भगवान से प्रकाशित कर्मों की अपेक्षा होती है।

व्याख्या—समुच्चयवादी स्वतः ही शंका उठा कर उसका समाधान करता है। पूर्व श्लोक में कहा है कि यदि मुक्ति प्राप्ति में विद्या, ज्ञान को स्वतंत्र मानते हो तो तुम्हारी धारणा **न हि**—ठीक नहीं, क्यों? **यद्वत्**—जैसे **सत्यकार्यः अध्वरः अपि**—अक्षय, स्थिर फलवाला कार्य, यज्ञ, 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इति श्रुतिः, सत्यकार्य होने पर भी स्वतंत्र नहीं है क्यों कि **अन्यान् कारकादिकान्**—यज्ञ के दूसरे सहायक उपकरणों की, हवन कुण्ड, समिधा घृत यवादि सामग्री की, देशकालादि की **प्रकांक्षते**—अपेक्षा करता है **तथा एव**—उसी प्रकार **विद्या अपि**—ज्ञान भी **मुक्तये**—कैवल्य मोक्ष के लिये **विधितः प्रकाशितैः कर्मभिः**—वेद भगवान् के विधि वाक्यों से प्रकाशित, कथित अग्निहोत्रादि कर्मों की **विशिष्यते**—मोक्ष फल देने में विद्या, विशेषता, अपेक्षा रखती है। तात्पर्य यह है कि फलदान में विद्या स्वतंत्र नहीं है वरन् कर्म के सहित विद्या अज्ञान का नाश कर सकती है ॥१३॥

केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिन-
स्तदप्यसद्दृष्टविरोधकारणात् ।

देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया
विद्या गताहंकृतितः प्रसिद्ध्यति ॥१४॥

अर्थ—इस प्रकार कुछ समुच्चयवादी कहते हैं, पर उनका कथन प्रत्यक्ष विरोध के कारण असत है। देहाभिमान से कर्म वढ़ते हैं, अहंकार रहित होने से ब्रह्मविद्या सिद्धि होती है।

व्याख्या—**इति**—इस प्रकार जैसे कि पूर्व के तीन श्लोकों में कहा है **केचित् वितर्कवादिनः वदन्ति**—कुछ तार्किक लोग, समुच्चय-वादी, ज्ञान और कर्म दोनों के समुच्चय से मोक्ष होता है ऐसा कहते हैं। अब रामजी इस पक्ष का खंडन करते हैं।

तत् अपि—उनका ऐसा कथन भी **असत्**—मिथ्या है, अयथार्थ है, जैसे कर्म से मोक्ष कहनेवालों का कथन अयथार्थ है, वैसे ही ज्ञान और कर्म के समुच्चय से मोक्षलाभ कहनेवालों का कथन भी दूषित है। क्यों असत् है? **दृष्टविरोधकारणात्**—ज्ञान और कर्म में प्रत्यक्ष पारस्परिक विरोध के कारण से, वह क्या विरोध है? इसपर कहते हैं **देहाभिमानात् क्रिया अभिवर्धते**—देह में आत्मा का अभिमान करने से कर्म प्रसार पाता है, वढ़ता है। जीव की देहात्मबुद्धि होने से वह कहेगा, 'मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा अमुक कर्त्तव्य है, मेरा ब्रह्मचर्य आश्रम है, मैं गुरु की सेवा करूँगा, विद्या उपार्जन करूँगा, फिर गृहस्थ में प्रवेश करूँगा' इत्यादि। देह ही संसार के सव व्यवहारों का आधार है, अतः कर्म देहाभिमानमूलक है, कर्म से पुनः नया जन्म मिलता है, जैसे पूर्व में कहा है, 'तत्र पुनः शरीरकं पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः' 'ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता' इत्यादि।

गताहंकृतितः विद्या प्रसिद्ध्यति—इसके विपरीत देहाभिमान, जो कि क्रियामूलक है, के गलित, नाश होने पर, पहले नहीं, ब्रह्मज्ञान सिद्ध होता है। क्रिया अहंकार से तथा विद्या अहंकारनाश से सिद्ध होने के कारण ज्ञान-क्रिया समुच्चय में विरोध है ॥१४॥

विशुद्धविज्ञानविलोचनाञ्चिता
विद्यात्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते ।
उदेति कर्माखिलकारकादिभि-
र्निहन्ति विद्याऽखिलकारकादिकम् ॥१५॥

अर्थ---अद्वैतपरक वेदमहावाक्यों के विचार से उत्पन्न अन्तः-करण की सर्वोदारा ब्रह्माकारवृत्ति विद्या कही जाती है। कर्म अन्य सहायक कारणों के साथ उदय होता है। ब्रह्मविद्या समस्त कर्म और उनके सहायक कारकों को नष्ट करती है।

व्याख्या---अब रामजी विद्या किसे कहते हैं, सो बताते हैं। **विशुद्ध**---निर्मल, अद्वैतपरक **विज्ञान**---वेदमहावाक्यों के **विलोचनां-चिता**---विशेष विचार, मनन, निदिध्यासन से प्राप्त **चरमा आत्म-वृत्तिः**---अन्तकरण की अन्तिम वृत्ति, ब्रह्माकारवृत्ति, अत्यन्त सूक्ष्म वृत्ति,विषयचिन्तन संकल्प वासनादि से अमिश्रित अन्तःकरण की सर्वो-दारा शुद्ध--स्थिर--सूक्ष्म मोक्षदायिनी वृत्ति, जो कि ब्रह्म को विषय करती है अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव कराती है **इति विद्या भण्यते**---ऐसी वृत्ति को विद्या अथवा ज्ञानवृत्ति कहा जाता है, (ज्ञान अज्ञान दोनों ही अन्तःकरण की वृत्तियां हैं) ब्रह्मविद्या को आचार्यों द्वारा ऐसा जोड़ लेना चाहिये। यह वृत्ति पहले अज्ञान का नाश करती है, पुनः आप भी नष्ट हो जाती है, मरु-भूमि में पड़े इंधन को जला कर जैसे अग्नि।

कर्म---नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध कर्म **अखिलकारका-दिभिः**---अपने पांच सहायक साधनों के साथ, शरीर, कर्ता जीव, इन्द्रियां, श्वास प्रश्वास आदि चेष्टा तथा पांचवा देव, चक्षुआदि इन्द्रियों के सूर्यादि देव, ये कर्म के पांच साधन है। भगवान कृष्ण ने गीता में इस प्रकार कहा है।

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१८।१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।१८।१४।।

हे अर्जुन ! कर्म के पांच साधनों को तू मुझ से सुन, जो कि सब कर्मों की सिद्धि के लिये कर्म के अन्त करनेवाले वेदान्त में कहे हैं। (१) अधिष्ठान—कर्म का आश्रय शरीर, (२) कर्त्ता—भोक्त जीव (३) कारण—इन्द्रियां (४) चेष्टा—श्वास प्रश्वांस आदि अलग-अलग वायु संबंधी क्रियाएँ (५) दैव—चक्षु आदि इन्द्रियां के अधिष्ठाता सूर्यादि देव। **उदेति**—कर्म अपने साधनों के सहित फलोन्मुख होता है, वह स्वतंत्र नहीं है, इसके विपरीत **विद्या अखिलकारकादिकम् निहन्ति**—ब्रह्मज्ञान, समस्त साधनों सहित कर्म का, नाश करता है। **'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'** गीता ४।३६ हे अर्जुन ! समस्त कर्म—प्रारब्ध संचित तथा क्रियमाण—ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति श्रुतिः मुंडक २।२।८ आत्मसाक्षात्कार होने पर सब कर्म नष्ट हो जाते हैं ।।१५।।

तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधी-
विंद्याविरोधान्न समुच्चयो भवेत् ।
आत्मानुसंधानपरायणः सदा
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरः ॥ १६ ॥

अर्थ—इसलिये विचारवान मुमुक्षु कर्म को सम्पूर्णरूप से त्याग दे, कर्म का विद्या के साथ विरोध होने से उन दोनों का मोक्षसाधन में समुच्चय नहीं हो सकता। सब इन्द्रियों को विषयों से विवृत्त करके, अपने स्वरूप के अनुसंधान (खोज) में लग जाये।

व्याख्या—अब समुच्चयवाद का उपसंहार करके मुमुक्षु को उपदेश देते हैं। **तस्मात्**—पूर्व के दो श्लोकों में जो कहा है उस के उपसंहाररूप **सुधीः**—सुन्दर बुद्धिवाला, विचारवान, मुमुक्षु **कार्यम्**

अशेषतः त्यजेत्—यह जानकर कि कर्म से अज्ञान का नाश नहीं होता, कर्म को पूर्णतया त्याग दे अर्थात् उसमें ज्ञान सामर्थ्य की भ्रांति को त्याग दे।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) नित्य, (२) नैमित्तिक तथा (३) काम्य। नित्य कर्म करने से फल नहीं सुना जाता परन्तु न करने से दोष होता है। कुछ विद्वानों के मत में नित्य कर्म अन्तः-करण की शुद्धि और प्रत्यवाय की निवृत्तिरूप फल देते हैं। 'सन्ध्या स्नानं जपश्चैव देवतानां च पूजनम्। वैश्वदेवं तथातिथ्यं षट्कर्माणि दिने दिने ।।२।७ बृहत्पाराशर स्मृतिः, सन्ध्या, (इसमें तर्पण भी सम्मिलित है,) स्नान, जप (इसमें स्वाध्याय होम भी समझने चाहियें) देवताओं का पूजन, वैश्वदेव वलि, अतिथि सत्कार— ये षट् कर्म नित्य कर्म कहलाते हैं। ये प्रतिदिन करने चाहियें।

नैमित्तिक कर्म—शास्त्रों में वताते हुए विशेष-विशेष अवसरों पर करने योग्य कर्म जैसे पर्वश्राद्ध, प्रायश्चित कर्म, दीवाली पर लक्ष्मी-पूजन, सूर्यचन्द्रग्रहणों में स्नान इत्यादि। काम्य—जो धर्मानुष्ठान धनस्त्रीपुत्रस्वर्गादि फल विशेष की इच्छा से किये जायें, वे काम्य कर्म कहलाते हैं।

रामजी कहते हैं कि कार्य को पूर्ण रूप से त्याग दे। भगवान का प्रयोजन समझना चाहिए। कोई भी जीवित प्राणी कर्म का अशेष त्याग नहीं कर सकता। यह सव का अनुभव है। भगवान कृष्ण के श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार वचन हैं।

'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।१८।११

देहधारी अर्थात् देहाभिमानी से कर्मों का पूर्णतया त्याग किया जाना सम्भव नहीं। अतः अज्ञ पुरुष जो कि मोक्ष की इच्छावाला हो वह नित्यकर्मो को करता हुआ भी, फलत्याग वासना से, त्यागी ही है। तात्पर्य यह है कि कर्मों को अकर्मदर्शनरूप विवेक द्वारा त्याग दे अर्थात्

अहंकार आसक्तिरहित होकर किया हुआ कर्म अकर्म ही है। अथवा कर्मों को ईश्वर की प्रसन्नता के लिये करना, स्वामी की प्रसन्नता निमित्त भृत्यवत् कर्म करना कर्म का संन्यास ही है। कर्मों का त्याग इसलिये आवश्यक है कि कर्म मुक्ति में हेतु नहीं हैं। कर्म का फल चित्तशुद्धि है, मोक्ष नहीं।

रामजी का प्रयोजन कर्मों के स्थूलत्याग से नहीं है, क्योंकि आगे कहेंगे 'यावत् शरीरादिषु मायया आत्मधीः, तावत् विधेयो विधिवादकर्मणाम्', जब तक देहादि में. आत्मबुद्धि रहे तब तक वेदविहित कर्मों को करता रहे। 'ज्ञात्वा परात्मानम् अथ त्यजेत् क्रियाः।' परमात्मा को जान कर कर्म की उपेक्षा करे अर्थात् उससे संबंधरहित हो जाये। ऐसा क्यों कहा?

क्योंकि **विद्याविरोधात् समुच्चयः न (भवेत्)**—विद्या अर्थात् ज्ञान और कर्म का विरोध होने से मोक्ष प्राप्ति में उनका सह-अस्तित्व संभव नहीं हो सकता। पूर्व में भी कहा है, 'विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी, न कर्म तज्जम्', 'देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया, विद्यागताहंकृतितः प्रसिद्ध्यति', 'उदेति कर्माखिलकारकारदिभिः, निहन्ति विद्याऽखिलकारकादिकम्'। विद्या ही स्वतंत्ररूप से अज्ञान का नाश करने में समर्थ है, विद्या और कर्म दोनों का समुच्चय हो ही नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान और कर्म सूर्यतिमिर की भाँति एक साथ नहीं टिक सकते।

यदि ऐसा है तो 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते, यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इति श्रुतिः, जो पुरुष अग्निहोत्रादि को त्याग देता है उसको इन्द्र की हत्या का दोष लगता है, इसलिये जब तक जीवित रहे अग्निहोत्र करता रहे। इस श्रुति का क्या होगा? तथा 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इति श्रुतिः, जो चातुर्मास्य यज्ञ करनेवाला है वह सुकृती है और अक्षय्य फल पाता है। इस श्रुति का क्या होगा?

इन श्रुतियों का तात्पर्य समझना चाहिये। श्रुति का तात्पर्य यह नहीं है कि कर्मोपासना के फलरूप स्वर्गादि उच्च लोकों के भोग नाश-

रहित मोक्षरूप हैं। श्रुति का अभिप्राय वेदविरुद्ध आचरण करने वाले पुरुषों को स्वर्गरूप मोक्ष के फल को सुना कर अधर्म मार्ग से निवृत्त कराना है। दूसरे, कर्मकाण्ड वेदभाग की श्रुति से ज्ञान-काण्ड की श्रुति अधिक बलवान होती है, तथा निषेधात्मक श्रुति तो और भी प्रबल होती है। जो मुमुक्षु नहीं हैं और इहलोक-परलोक के भोगों के अभिलाषी हैं उनके लिये श्रुति भगवती ने जब तक जीवित रहे अग्निहोत्र करता रहे, ऐसा बताया है। श्रुति का यह रोचक वचन है, जिससे आकृष्ट हो कर लोक शुभकर्म में प्रवृत्त हो जायें। 'इन्द्र की हत्या लगेगी' श्रुति का ऐसा वचन भयानक है जिससे श्रद्धालु परन्तु कुमार्गी पुरुष अशुभ कर्मों से निवृत्त हो जायें। निषेधात्मक श्रुति का प्रमाण रामजी आगे २१ वें श्लोक में स्वयं ही देंगे।

सदा—बोध होने तक **निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरः**—सब इन्द्रियां श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—ये प्रत्येक इन्द्रिय के पृथक्-पृथक् गोचर, विषय हैं। विषयों से निवृत्त, संबंधरहित हो कर, विषयों को नाशवान अतः असत् जान कर उनसे उपराम हो जाये।

अभिप्राय यह है कि अत्यन्त विरक्त हो कर, क्योंकि 'अत्यन्त-वैराग्यवतः समाधिः', अत्यन्त विरक्त की ही समाधि लगती है, **आत्मा-अनुसंधान-परायणः**—आत्मा विषय पर विचार—श्रवण, मनन, निदिध्यासन—को ही अपना परम लक्ष्य बनाये, अपने स्वरूप की खोज में ही संलग्न हो जाये, विचार द्वारा स्वस्वरूपानुसंधान करके मुक्त हो जाये।

यहाँ राम जी ने मुमुक्षु को ज्ञानसाधना के दो सोपान बताये हैं। पहला, सब विषयों को आदि-अन्त वाले जान कर उनसे विरक्त हो जाना, 'आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः'। गीता ५।२२। इन्द्रियों के विषय आदि अन्तवाले हैं, उनमें मुमुक्षु रमण नहीं करता। विषय सेवन से अविद्या का नाश नहीं, वरन्, अन्य कर्मों की उत्पत्ति होती है, 'संसारो न निवर्तते'। विवेकचूडामणिः ।। ३१४।। संसार

बंधन से पीछा नहीं छूटता। विषयानुराग संसार का हेतु है। उसके उपरान्त दूसरा साधना सोपान है, अपने स्वरूप की खोज। 'मैं कौन हूँ,' 'यह जगत् किससे उत्पन्न हुआ', 'इस जगत् का कर्त्ता कौन है', 'इस जगत् का कारण क्या है'—ब्रह्म विचार के ये चार प्रश्न हैं। इनके आश्रय से स्व-स्वरूप का अनुसंधान होता है। विषय चिन्तन छोड़ कर, ब्रह्म चिन्तन करे। ॥१६॥

यावच्छरीरादिषु माययाऽऽत्मधी-
स्तावद्विधेयो विधिवादकर्मणाम् ।
नेतीति वाक्यैरखिलं निषिद्ध्य त-
ज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत् क्रियाः ॥१७॥

अर्थ—जब तक माया के प्रभाव से शरीरादिकों में आत्मबुद्धि रहे तब तक शास्त्रविहित कर्म करने चाहियें। 'नेति' इति श्रुति आदेशों से उन सबका निषेध करके परमात्मा का साक्षात्कार करके उसके उपरान्त कर्म से संबंधरहित हो जाये।

व्याख्या—श्लोक १६ में, 'तस्मात् त्यजेत् कार्यम् अशेषतः सुधीः' अर्थात् मुमुक्षु कर्म का अशेष त्याग करे यह जो कहा है उसका रहस्य इस श्लोक में खोलते हैं। कर्म करना किसका कर्तव्य है, किसका नहीं है। कर्म करने की क्या अवधि है, यह बताते हैं।

यावत्—जितने काल तक **मायया**—अज्ञान, अविद्या के प्रभाव से **शरीरादिषु**—स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर में, (इन शरीरों का निरूपण राम जी आगे करेंगे।) आदि पद से प्राण इन्द्रिय अन्तःकरण ग्रहण करना, इनमें **आत्मधीः**—आत्मबुद्धि है, 'मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ', इस प्रकार अनात्म वस्तुओं में अज्ञान के कारण आत्मा की भ्रान्ति है, **तावत्**—उतने काल तक, चित्तशुद्धि पर्यन्त, **विधिवादकर्मणाम् विधेयः**—'शास्त्र विहित कर्मों को करो' ऐसा जो वाद, घोषणा वेदों

में है, उसके अनुसार कर्तव्यबोधसूचक कर्मों को करना चाहिये। नित्य नैमित्तिक कर्मों को करना चाहिये। 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।' गीता १८।५। यज्ञ दान तप मनीषियों को पवित्र करते हैं, उनकी चित्तशुद्धि करते हैं। शुद्ध चित्त की ही ज्ञानोपार्जन में योग्यता होती है।

'नेति' इति वाक्यैः—'नेति' वेद वाक्यों से, श्रुतिः इस प्रकार है 'अथात आदेशो नेति नेति' बृहदारण्यक २।३।६ इस श्रुतिवाक्य में वेद भगवान की आज्ञा है कि 'यह नहीं है', 'यह नहीं है' वेद भगवान ने यहाँ दो वार 'नेति' कहा है। एक 'नेति' नाम का निषेधक है, और दूसरा रूप का निषेधक है अर्थात् नाम रूप माया कल्पित होने से असत् हैं, आत्मा नहीं हैं। अथवा एक 'नेति' से कारण उपाधि, और दूसरे से कार्य उपाधि का निषेध होता है। 'कार्योपाधिरयं जीवः, कारणोपाधिरीश्वरः, कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते' इति शुकरहस्योपनिषद ॥१२॥ जीव की अविद्यारचित कार्य उपाधि है और ईश्वर की माया निर्मित कारण उपाधि है। कार्य और कारण दोनों उपाधियों के निषेध से जो अवशेष रहता है वही शुद्ध सच्चिदानन्दघन पूर्ण परमात्मा है।

अखिलम् निषिध्य-माया और उसके कार्य को 'नेति' वेद वाक्यों के वल से आत्मा से निराकरण करके जो अवशेष रहे, माया की सीमा से परे, माया साक्षी, उस **परमात्मानम्**—सर्वोत्कृष्ट आत्मा को **ज्ञात्वा**—गुरु वेद वाक्यों से पहले परोक्षरूप से जान कर फिर ब्रह्माभ्यास करके निर्विकल्प समाधि में आत्मसाक्षात्कार करके **अथ**—उसके उपरान्त परमात्मा का अखंड ब्रह्माकार वृत्ति से अनुभव करके **क्रियाः त्यजेत्**—सर्व कर्मों से निवृत्त हो जाये, कृतकृत्य हो जाये। अर्थात् उसका कर्म से कोई संबंध नहीं रहता। चाहे वह कर्म करे चाहे न करे। कर्म की कर्तव्यता उसमें नहीं रहती। अभिप्राय यह है कि आत्मदर्शन होने के उपरान्त ज्ञानवान को सब कर्तव्य कर्मों का फल प्राप्त हो जाता है, उसको सिवाय अपने स्वरूप के

अन्य कुछ नहीं भान होता । वह किस प्रकार किस हेतु से कर्म करे ! भगवान कृष्णचन्द्र ने गीता में कहा है,'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन'। गीता ३।२२। हे अर्जुन ! मुझ परमात्मा का तीन लोकों में कुछ कर्तव्य नहीं है । यदि बोधवानों से कुछ कर्म वनता है तो वह लोकसंग्रहदृष्टि से होता है, पर उनका कर्म वन्धनकारी नहीं होता, देहाभिमान रहित होने से । यदि वे कर्म न करें तो उनको प्रत्यवाय नहीं होता, कर्तव्यबुद्धिरहित होने से ।।१७।।

यदा परात्मात्मविभेदभेदकं
विज्ञानमात्मन्यवभाति भास्वरम् ।
तदैव माया प्रविलीयतेऽञ्जसा
सकारका कारणमात्मसंसृतेः ॥१८।

अर्थ—जव परमात्मा में नानात्व का नाशक ज्ञान अन्तःकरण में प्रत्यक्ष प्रकाशित होता है, तव ही परमात्मा में भासित संसार का कारण माया अपने कार्यसहित तत्क्षण विलीन होता है ।

व्याख्या—आपने कहा है कि ज्ञान होने पर कर्म त्याग दे, आपने कर्म त्यागने का फल नहीं वताया । ज्ञानवान को भी संसार का अनुभव होता है । इस पर कहते हैं ।

यदा—जव **परात्मा - आत्मा-भेद-विभेदकम्**—परात्मा-ईश्वर, आत्मा-जीवात्मा इन दोनों के बीच माया कल्पित उपाधिकृत भेद, उसका भेदक, नाश करने वाला **विज्ञानम्**—अनुभवयुक्त ज्ञान, अर्थात् द्वैतपरक संशयविपर्यय भावनाओं का नाश करने वाली अन्तः-करण की अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति **आत्मनि**-अन्तःकरण में **भास्वरम्**-महाप्रकाशरूप से **अवभाति**—उदय होती है, आत्मसाक्षात्कार होता है, 'वेदाहमेनं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात्' इति श्रुतिः श्वेताश्वतर ३।८। मैं उस औपनिषद पुरुष ब्रह्म को जानता हूँ, जो कि महान है, सूर्यवर्ण का अर्थात् प्रकाशमान है और अज्ञान से

परे है। जब ज्ञानसूर्य का उदय होता है **तदा एव**—तब बोध होते ही तत्काल, कालान्तर में नहीं **आत्मसंसृतेः कारणम्**—आत्मा में संसार बंधन का कारण, मूलकारण, जैसे पहले कहा है, 'अज्ञानमेवास्य हि मलकारणम्' **माया**—अज्ञान **सकारकाः**—अपने कार्यसहित, आकाश वायु अग्नि आदि महाभूतों और उनके विकार शरीरादि तथा स्थूल पृथ्वी आदि लोक **अञ्जसा**—उसी क्षण **प्रविलीयते**—विलीन हो जाते हैं, नाम रूप खो देते हैं, ब्रह्म रूप हो जाते हैं अर्थात् समाधि काल में माया और उसके कार्य का अत्यन्त अभाव हो जाता है, और समाधि से जब उत्थान होता है तो माया और उसका कार्य अज्ञानावस्था में भासने वाली अपनी निजी सी सत्ता खो कर ब्रह्मरूप हो कर भासते हैं। जैसे रस्सी का बोध होने पर उसी क्षण उसमें भासने वाला सर्प बिना विलम्ब के, विलीन हो जाता है, वैसे ही यहां भी समझना।

लक्ष्मणजी ने रामजी से निवेदन किया था कि मुझे ऐसा उपदेश दो जिससे 'अञ्जसा अज्ञानम् अपारवारिधिम् सुखम् तरिष्यामि'। रामजी ने ऐसा ही उपदेश दिया है कि विज्ञान के उदय होने से अज्ञान 'अञ्जसा' नष्ट हो जाता है, चाहे वह अज्ञान कितना ही गंभीर, पुरातन आद्यन्तहीन सागरवत् क्यों न हो ॥१८॥

श्रुतिप्रमाणाभिविनाशिता च सा
कथं भविष्यत्यपि कार्यकारिणी।
विज्ञानमात्रादमलाद्द्वितीयत-
स्तस्मादविद्या न पुनर्भविष्यति ॥१९॥

अर्थ—संसार रचना में समर्था होती हुई भी श्रुति प्रमाण से भले प्रकार नष्ट किये जाने पर वह माया फिर कैसे उत्पन्न हो सकेगी मायामलरहित, अद्वय, शुद्ध बोधमात्र ब्रह्म से? इसलिये एक बार नष्ट हुई माया फिर उदय नहीं हो सकेगी।

व्याख्या—आप ने बोध होने पर अज्ञान का तत्क्षण नाश बताया

है। जैसे अज्ञान का तुरन्त नाश होता है, वैसे ही उसकी पुनः तुरन्त उत्पत्ति भी तो हो सकती है। इस शंका को दृष्टि में रख कर रामजी कहते हैं **श्रुतिप्रमाण–अभिविनाशिता च**—'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति महावाक्यों के ज्ञान के प्रमाण से, तथा अनुभव से, चकार से अनुभव समझना। जिस माया का चारों ओर से भली प्रकार नाश कर दिया गया, अर्थात् अपने कार्यसहित—आकाशादि महाभूतों से ले कर स्थूल शरीर तक नाश कर दिया गया है, सत्तारहित कर दी गई है। **कार्यकारिणी अपि**—यद्यपि वह माया अत्यन्त दुस्तर और गुणमयी है, 'अघटितघटना पटीयसी माया' मायापंचकम्, ।१। जो घटना किसी प्रकार न घट सके उसको भी घटाने में समर्था है, महान भयावह संसार अपने कार्य को क्षण-भर में रच कर खड़ा करने में कुशला है तो भी भला विचार कर देखो **कथम् भविष्यति**—कैसे पुनः उत्पन्न होगी, क्योंकि वेद प्रमाण से प्रवल तो अन्य कोई प्रमाण होता नहीं, श्रुति, माया और उसके कार्य को, 'नेति', 'नेति' अर्थात् यह सत् नहीं है, सत् नहीं है, इस प्रकार कह कर उसका आत्मा होना निषेध करती है। 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः, छान्दोग्य ६।२।१ ब्रह्म एक अद्वितीय तत्त्व है, तो फिर माया और उसके कार्य संसार की सत्ता कैसे रहेगी ?

और वड़े आश्चर्य की वात तो यह है कि उसकी उत्पत्ति भी वताते हैं, किससे ? **अमलात्**—अज्ञान मल से रहित **अद्वितीयतः**—निर्द्वंय, निर्भेद ब्रह्म से **विज्ञानमात्रात्**—शुद्ध बोधमात्र, अज्ञानरहित से। माया की उत्पत्ति भला अमल, एकतत्त्व शुद्धबोधरूप ब्रह्म से कैसे होगी, अर्थात् किसी प्रकार नहीं हो सकती। नाम रूप भेदात्मक माया का एक भी धर्म ब्रह्म में नहीं हैं। अव उपसंहार करते हैं **तस्मात्**—इसलिये **अविद्या न पुनः भविष्यति**—प्रवल वेद प्रमाण से नष्ट की हुई अविद्या, माया, वेद प्रमाण से अधिक प्रवल प्रमाण के अभाव में फिर उत्पन्न नहीं होगी—तीन काल में भी नहीं होगी। अज्ञानवश ईषत् अन्धकार में रस्सी भयंकर सर्प हो कर भासती है, परन्तु प्रकाश होने पर जव रस्सी का स्वरूप पहचान लिया गया तो पुनः उन सर्प का उद्भव नहीं हो सकता ।।१६।।

यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसूयते
कर्ताऽहमस्येति मतिः कथं भवेत्।
तस्मात्स्वतन्त्रा न किमप्यपेक्षते
विद्या विमोक्षाय विभाति केवला॥२०॥

अर्थ—यदि नष्ट हुई माया ही पुनः उदय नहीं हो सकती तो उसका कार्य 'मैं कर्म का कर्ता हूँ' यह बुद्धि कैसे हो सकती है, इसलिये केवल ब्रह्मविद्या ही मोक्षफल देने में स्वतंत्रा है, और कार्यादि अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखती।

व्याख्या—विद्या स्वतंत्ररूप से ही अज्ञान का नाश करती है, कर्म की सहायता के विना, इस पक्ष को युक्ति से कहते हैं। **नष्टा स्म यदि पुनः न प्रसूयते**—ज्ञान से नष्ट हुई माया, अज्ञान, पुनः संसार रचना में यदि असमर्थ है, जैसा कि पूर्व में कहा है, 'श्रुतिप्रमाणाऽभि-विनाशिता सा न पुनः भविष्यति' तो **अहम् मतिः**—मायारूप कारण के अभाव में उस का कार्य 'अहम्-मतिः' देह में आत्माभिमान, 'मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ' इत्यादि अनात्म वस्तु में आत्मबुद्धि कैसे होगी? और देहाभिमान के अभाव में कर्म का भी तत्काल अभाव होता है इसलिये **अस्य कर्ता इति**—मैं अमुक कर्म का कर्ता हूँ, यह भावना **कथम् भवेत्**—कैसे होगी? अर्थात् किसी प्रकार 'अहंमति' नहीं हो सकती।

जब अज्ञान नहीं तो देहाभिमान नहीं, जैसे पूर्व में कहा है 'देहाभि-मानादभिवर्धते क्रिया' और जब देहाभिमान नहीं तो कर्म नहीं, जब कर्म नहीं तो वह ज्ञान के साथ कैसे मिल कर मोक्षफल देगा? अर्थात् ज्ञान और कर्म का समुच्चय मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता **तस्मात्**—इसलिये **विद्या स्वतंत्रा**—मोक्षफल जनन में ब्रह्मविद्या स्वतंत्रा है, **न किम् अपि अपेक्षते**—मोक्षफलदान में किसी की, कर्म की, 'अपि' का अर्थ है उपासना की भी अपेक्षा नहीं रखती **मोक्षाय केवला**

विभाति—अतः मोक्षसम्पादन में केवल ब्रह्मविद्या, कर्मोपासना से असहाया, प्रकाशती है, फलदान में समर्था है ॥२०॥

Imp

सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं
न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम् ।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुति-
र्ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम् ॥२१॥

अर्थ—तैत्तिरीयारण्यक की उस प्रसिद्ध श्रुति ने आदरपूर्वक समस्त शास्त्रविहित कर्मों का त्याग स्पष्ट कहा है। और वाजसनेयी श्रुति (बृहदारण्यक ४।५।१५।) 'एतावत् अरे खलु अमृतत्वम्' ने भी कहा है कि कैवल्य मोक्ष का साधन ज्ञान है, कर्म नहीं।

व्याख्या—युक्तिमात्र से लक्ष्मणजी की संतुष्टि नहीं हुई ऐसा जान कर सर्वज्ञ भगवान रामजी अब श्रुति प्रमाण से ज्ञान को, कर्म को नहीं, मोक्ष का कारण बताते हैं।

तैत्तिरीयश्रुतिः सा सादरम्—तैत्तिरीयारण्यक १०।५ की वह प्रसिद्ध श्रुति आदर के साथ, कर्म की निन्दा के निमित्त नहीं, बल्कि यथार्थ वचन कहने के लिये **स्फुटम् आह**—स्पष्टरूप से कहती है, क्या कहती है? 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेन एके अमृतत्वमानशुः' कर्म से, सन्तान से, धन से अमृतत्व की प्राप्ति नहीं, इन के त्याग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह श्रुति स्पष्ट शब्दों में **प्रशस्त-अखिल-कर्मणाम् न्यासम्**—विधिवाक्यों से कहे हुए सब कर्मों का त्याग कहती है, किस-लिये? मोक्ष के लिये, अर्थात् मोक्ष कर्मसाध्य नहीं है, ज्ञान साध्य है। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक के प्रपाठक ७, ८ और ९ का नाम तैत्तिरीयोपनिषद है, पूर्वोक्त श्रुति तैत्तिरीयोपनिषद में नहीं है। इस आरण्यक का जो दशम प्रपाठक है उसे नारायणोपनिषद कहते हैं। उस में यह श्रुति उपलब्ध है। **वाजिनाम् श्रुतिः च एतावत् इति आह**—वाजसनेयी श्रुति, बृहदारण्यकोपनिषद की श्रुति ४।५।१५ ने भी कहा

हैं, श्रुति इस प्रकार है—'एतावत् अरे खलु अमृतत्वम् ।' याज्ञवल्क्यजी ने मैत्रेयी से कहा, 'एतावत्' वस इतना ही है जो कि 'नेति-नेति' इस प्रकार अद्वैत आत्मा का साक्षात्कार करना है, वह किसी दूसरे सहकारी कारण की अपेक्षा से रहित अमृतत्व (मोक्ष) का साधन है । तू ने जो पूछा था कि, 'भगवान जो अमृतत्व का साधन जानते हों, वही मुझे वतलायें',सो वह साधन इतना ही है ।

ज्ञानम् विमोक्षाय साधनम् कर्म न—तैत्तिरीय श्रुति से तथा बृहदारण्यक श्रुति से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान ही कैवल्य मोक्ष का स्वतंत्र साधन है, कर्म नहीं । आत्मज्ञान का विषय कूटस्थ नित्य आत्मा वस्तु है, इसलिए उसे देशकाल निमित्तादि की अपेक्षा नहीं । कर्म पुरुष के आधीन है, इस लिये उसे देश काल एवं निमित्तादि की अपेक्षा है । ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है । कर्म, अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण, अन्य कर्म को उदय करता है, अज्ञान का नाश नहीं करता । अज्ञान का विरोधी कर्म नहीं, ज्ञान है ।

विद्यासमत्वेन तु दर्शितस्त्वया
क्रतुर्न दृष्टान्त उदाहृतः समः ।
फलैः पृथक्त्वाद्बहुकारकैः क्रतुः
संसाध्यते ज्ञानमतो विपर्ययम् ॥२२॥

अर्थ—हे समुच्चयवादिन् ! जो तुम ने ब्रह्मविद्या की यज्ञ के साथ समानता दिखाई है, वह दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है । कारण—ज्ञान और कर्म के फलों में भेद होने से तथा कर्म बहुत से अन्य साधनों की सहायता से सिद्ध होता है, अतः ज्ञान और कर्म का विरोध है ।

व्याख्या—'सत्यकार्योऽपि हि यद्वदध्वरः' इस प्रकार १३ वें श्लोक में समुच्चयवादी ने जो उदाहरण दिया था कि जैसे यज्ञ, जो कि सत्यकार्य है, के करने में वहुत से उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है,

वैसे ही विद्या को मोक्ष साधने में कर्म की आवश्यकता पड़ती है। अब इस उदाहरण की विषमता बताते हैं। **त्वया**—हे समुच्चयवादी! तेरे से **क्रतुः विद्यासमत्वेन दर्शितः**—अग्निष्टोमादियज्ञ विद्या के समान दिखाया गया है **समः दृष्टान्तः न तु उदाहृतः**—परन्तु उपयुक्त और अकाट्य दृष्टान्त नहीं दिया जिससे तेरा पक्ष प्रबल होता। **अत्र हेतु फलैः पृथक्त्वात्**—फलों के भेद से। कर्म से जन्म, जन्म से फिर कर्म, इस प्रकार संसारचक्र चलता रहता है, जैसे पूर्व में कहा है, 'तत्र पुनः शरीरकं पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः'। कर्म से और क्या फल है? 'नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत्। ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता' इत्यादि कर्म के फल हैं; पुनर्जन्म, सदोषकर्मजन्म तथा संसार बन्धन से अनिवृत्ति। इसके विपरीत विद्या का फल है अज्ञान और उसके कार्य का नाश, जैसे पूर्व में कहा है, 'विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी' 'निहन्ति विद्याऽखिलकारकादिकान्', अतः फलदृष्टि से विद्या और क्रतु में समता नहीं है। यही नहीं, विद्या और क्रतु के साधनों में भी अन्तर है, कैसे? **क्रतुः बहुकारकैः संसाध्यते**—यज्ञ बहुत से सहायक उपकरणों से सिद्ध होता है। यज्ञ के लिये यजमान, यज्ञ करानेवाला, सामग्री, हवनकुण्ड, उपयुक्त देश-कालादि सब चाहियें, परन्तु विद्या स्वतंत्र है उसको कारकादिक की आवश्यकता नहीं, 'स्वतंत्रा न किमप्यपेक्षते, विद्या विमोक्षाय विभाति केवला' **अतः ज्ञानम् विपर्ययम्**—इस लिये कर्म से ज्ञान विपरीत, उलटा है, उन दोनों में विषमता है, समता नहीं। ज्ञान और कर्म के कारणों की पृथकता पहले बता चुके हैं। कर्म देहाभिमान से और ज्ञान अहंकार के नाश होने पर सिद्ध होता है, 'देहाभिमानदभिवर्धते क्रिया, विद्या गताहंकृतितः प्रसिद्ध्यति' ॥२२॥

सप्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधी-
रज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः।
तस्माद्बुधैस्त्याज्यमविक्रियात्मभि-
र्विधानतः कर्म विधिप्रकाशितम् ॥२३॥

अर्थ—'कर्म न करने से मुझे दोष लगेगा' यह अज्ञान लक्षणवाली बुद्धि देहाभिमानियों में प्रसिद्ध है, तत्त्वदर्शी की ऐसी बुद्धि नहीं होती। इसलिये अपने को निर्विकार आत्मा जानने वाले बोधवानों से विधानपूर्वक शास्त्रों में प्रकाशित कर्म (भी) त्याज्य है।

व्याख्या—और हे समुच्चयवादी, जो तुम ने यह कहा है कि 'कर्माकृतौ दोषमपि श्रुतिर्जगौ' कि कर्म न करने से श्रुति ने दोष गायन किया है, सो उसका रहस्य श्रवण कर। **अहम् सप्रत्यवायः हि इति अज्ञप्रसिद्धा अनात्मधीः**—श्रुतिविहित कर्म त्याग से निश्चय ही मैं प्रायश्चित्त का भागी बनूंगा ऐसी भावना करना जो कि मूढ़ों में प्रसिद्ध, विवेकवानों में नहीं, शुद्ध आत्मतत्त्व में अनात्म वस्तु के, जड़ देह के, धर्मों का आरोपण करना है। अत्र हेतु, कर्म का संबंध देह से है, आत्मा से नहीं, जब मोहित-सा हुआ आत्मा जीवभाव के साथ अपना तादात्म्य-सा कर लेता है तो अपने को अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान परतंत्र जीव जानता है, और अपनी मोहकल्पित वासनाओं की पूर्ति के लिये नाना प्रकार के कर्म कलाप करता है। कर्म अहंकार मूलक है। बोधवान का देहाभिमान ज्ञानाग्नि से दग्ध हो चुका होता है, अतः अज्ञानी के लिये ही कर्म कर्तव्यता है, बोधवान के लिये नहीं। जब तक आत्म-ज्ञान न हो तब तक कर्म करते रहना चाहिये। श्रुति भगवती ने मूढ़ों को सत्कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिये ही शास्त्र विहित कर्म न करने से दोष बताया है, ज्ञानियों में कर्म के प्रति सत्यत्वबुद्धि जगाने के लिये नहीं।

तत्त्वदर्शिनः न तु—अहंकार के अभाव में ब्रह्मनिष्ठ के लिये श्रुति का पूर्वोक्त आदेश नहीं है। ज्ञानवान से किसी प्रकार भी कर्म नहीं बन सकता।

स्थूलादिसंबंधवतोऽभिमानिनः
सुखं च दुःखं च शुभाशुभे च।
विध्वस्तबन्धस्य सदात्मनो मुनेः
कुतः शुभं वाऽप्यशुभं फलं वा ॥५४६॥
—विवेकचूडामणि

स्थूलादि देह में अभिमानी को सुख, दुःख का अनुभव होता है और शुभ अशुभ कर्मफल होते हैं, परन्तु जिसका देहाभिमान बंधन टूट चुका है, और जो आत्मस्वरूप बन चुका है उसको शुभाशुभ फल कैसे हो सकते हैं ?

मूढ़ों के लिये तो श्रुति ने कर्म न करने से दोष गाया, और ज्ञानवानों के लिये क्या बताया, इस पर कहते हैं।

तस्मात्—इसलिये **अविक्रियात्मभिः बुधैः**—अविकारवान, हर्ष-विषादादि विकार शून्य, गुणातीत, क्रियाफल में अनासक्त चित्त वाले, शुद्ध मानस बोधवानों से **विधानतः**—विधानपूर्वक **विधिप्रकाशितम्**—शास्त्रों में कर्तव्यतारूप से कहे हुए भी **कर्म**—नित्य नैमित्तिकादि कर्म **त्याजम्**—उपेक्षणीय हैं, कर्तव्य नहीं हैं। यदि ज्ञानवान कर्म करते भी हैं तो भी वे कर्म लोकसंग्रह के लिये ही होते हैं, और वे कर्म उनको लिपायमान नहीं कर सकते। यदि वे कर्म न भी करें तो उनको कोई प्रत्यवाय नहीं होता, देहाभिमानरहित होने से।

सारांश यह है कि जैसे किसी वन में कोई छिद्रवाला बाँस खड़ा हो और वायु के चलने से उस छिद्र के सम्पर्क से वेणु बजने लगे तो उस बाँस का उस वेणु से कोई संबंध नहीं होता। उसी प्रकार प्रारब्ध समर्पित ज्ञानवान के देह से, माया के गुणों से संचालित किये जाने पर यदि कोई शुभाशुभ कर्म बन भी पड़े, तो ज्ञानवान का, जो ब्रह्मरूप हो चुका है, उन कर्मों से कुछ संबंध नहीं रहता। तो क्या उनके कर्म निष्फल हैं ? नहीं, 'सुहृदः पुण्यकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यां गृह्णन्ति' इति श्रुतिः, ज्ञानवान की देह से शुभ कर्मों का फल उसके सेवकों को मिलता है, और अशुभ कर्मों का फल उसके निन्दकों को मिलता है। परन्तु ज्ञानवान सदा ही अकर्ता रहता है ॥२३॥

श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो
गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः ।
विज्ञाय चैकात्म्यमथात्मजीवयोः
सुखी भवेन्मेरुरिवाप्रकम्पनः ॥२४॥

अर्थ—शुद्धबुद्धि तथा श्रद्धायुक्त होकर सद्‌गुरु की कृपा से 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से परमात्मा और जीव की एकता अनुभव करके आनन्दित हो जाये। इसके उपरान्त मेरुपर्वत के सदृश अचल रहता है।

व्याख्या—आपने कहा है कि अज्ञानी के लिये कर्म कर्तव्यता है। यदि ऐसा है तो अज्ञानी को कभी ज्ञान हो ही नहीं सकता, कर्म का फल मोक्ष न होने से। कर्म के अतिरिक्त मोक्ष के लिये अज्ञानी और क्या करे। इस पर कहते हैं—

शुद्धमानसः—शुद्ध-स्थिर अन्तःकरणवाला होकर, निष्काम कर्मानुष्ठान से निर्मल चित्त होकर, विवेक वैराग्यादि साधन चतुष्टय से सम्पन्न होकर, इहलोक परलोक के दृष्ट श्रुत भोगों में घृणा का नाम वैराग्य। आत्मा अविनाशी है, दृश्य जगत नाशवान है, इन दोनों के भेद का दृढ़ निश्चय विवेक कहाता है। तीसरा ज्ञानसाधन षट् सम्पत्ति कहलाता है। इसके छः अंग हैं, पर यह गिना जाता है एक साधन, मनोनिग्रह शम, इन्द्रियनिग्रह दम, विषयों की आकर्षणरहितता उपरति, सुख-दुःख, शीतोष्णादि द्वन्द्वों की सहनशक्ति तितिक्षा, शास्त्र एवं गुरु के वचनों में विश्वास श्रद्धा, लक्ष्य में मन की एकाग्रता समाधान। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये छः अंग मिल कर ज्ञान का एक साधन षट्-सम्पत्ति कहलाता है, और ज्ञान का चौथा साधन है मुमुक्षता—संसार बंधन से मुक्त होने की दृढ़ इच्छा। इन साधनों से युक्त साधक शुद्धमानस होता है, और ब्रह्म विद्या का अधिकारी होता है। **अपि श्रद्धान्वितः**—और श्रद्धा से युक्त। यद्यपि श्रद्धा षट् सम्पत्ति में सम्मिलित है तो भी रामजी ने इसकी महत्ता को दृष्टि में रख कर इसे स्वतंत्र रूप से भी कहा है, क्योंकि 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'। गीता ४।३९ श्रद्धावान ज्ञान लाभ करता है। 'संशयात्मा विनश्यति' गीता ४।४० संशयात्मा, श्रद्धाविहीन नष्ट हो जाता है। 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि' इति श्रुतिः कैवल्योपनिषद।२। श्रद्धा भक्ति तथा ध्यानयोग से ब्रह्म को प्राप्त होओ।

उक्त साधनों से युक्त हो कर सद्गुरु की शरण में जायें और उनको 'प्रसन्नधी:' जान कर अपना ज्ञातव्य प्रकाशित करे। जैसे पूर्व में कहा है 'उपात्तसाधनः समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये'।

उसके उपरान्त **गुरोः प्रसादात्**—सद्गुरु के कृपारूप ब्रह्मविद्या के उपदेश से **'तत् त्वम् असि' इति वाक्यतः**—'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से। सामवेद छान्दोग्योपनिषद ६।८।७ में यह मंत्र महावाक्य है। 'वह ब्रह्म तू ही है', महावाक्य के इस उपदेश से **आत्म-जीवयोः**—ईश्वर और जीवात्मा की **ऐकात्म्यम् विज्ञाय**—एकता को परोक्ष रूप से जान कर **च**—तथा उनके उपदेश पर मनन करे, फिर निदिध्यासन, ब्रह्माभ्यास करे, निदिध्यासन के परिपक्व होने पर ईश्वर और जीवात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करके **सुखी भवेत्**—सकल दुःखहीन, पूर्ण आनन्दरूप हो जाये **अथ**—आत्मसाक्षात्कार के उपरान्त **मेरुः इव अप्रकम्पनः**—स्वस्वरूप में मेरुपर्वत की तरह अचल हो जाता है, विषय वासनाओं के वेग से क्षोभरहित हो जाता है 'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते' गीता—६।२२। ब्रह्म में अवस्थान होने से भारी-से-भारी दुःख से भी ज्ञानवान विचलित नहीं हो सकता, दुःखद्वन्द्वादि के असत् रूप होने से। कागज के सिंह से कौन भय खायेगा ? ।।२४।।

आदौ पदार्थावगतिर्हि कारणं
वाक्यार्थविज्ञानविधौ विधानतः।
तत्त्वम्पदार्थौ परमात्मजीवका-
वसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत् ।।२५।।

अर्थ—पहले पृथक्-पृथक् पदों का अर्थ जानना चाहिये, यह प्रसिद्ध है कि विधिपूर्वक वाक्य के अर्थ ज्ञान में उस में सम्मिलित पदों के पृथक् अर्थ का ज्ञान कारण है। 'तत्' और 'त्वम्' ये दो पद क्रमशः परमात्मा और जीव के वाचक है और 'असि' पद से इन दोनों की एकता होती है।

व्याख्या—पूर्वश्लोक में 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उल्लेख आया

है। अब 'तत्त्वम्' पदार्थ शोधन विधि बताते हैं, अर्थात् 'तत्' 'त्वम्' और 'असि' इन तीन पदों के अर्थ का संशोधन करते हैं। **आदौ**—'तत्त्वमसि' श्रुति महावाक्य के अर्थ जानने के लिये पहले **पद-अर्थ-अवगतिः हि कारणम्**—उसमें सम्मिलित पदों के पृथक् अर्थ को जानना चाहिये, यह प्रसिद्ध है **विधानतः**—शास्त्र-गुरु से विधि-वत् बताये हुए प्रत्येक पद के अर्थ का ज्ञान **वाक्यार्थविज्ञान-विधौ (कारणम्)**—पूरे वाक्य के अर्थज्ञान उत्पन्न करने में साधन होता है। अब प्रत्येक पद का पृथक् अर्थ बताते हैं **तत्-त्वम्-पदार्थौ-परमात्म-जीवकौ**—'तत्' पद का वाच्यार्थ है सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान स्वतंत्र मायोपाधियुक्त ईश्वर, और 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान परतंत्र अविद्या उपाधियुक्त जीव **च असि इति**—और तीसरा पद 'असि' से जिस का अर्थ 'है' है **अनयोः**—ईश्वर और जीव इन दोनों की **ऐकात्म्यम् भवेत्**-एकता होती है 'असि' पद ईश्वर जीव में एकत्व स्थापित करता है। **अथ**—वाच्यार्थ में एकता नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञतादि गुणों से युक्त ईश्वर अल्पज्ञतादि गुणों से युक्त जीव कभी एक नहीं हो सकते। अथ का अर्थ है कि इन पदों के अर्थों को लक्षणावृत्ति द्वारा संशोधन होने पर इन के लक्ष्यार्थ चेतनांश में एकता है। वाच्यार्थ में एकता नहीं ॥२५॥

अब आगे विषय गंभीर होता है, दत्तचित्त होकर सुनना चाहिये। जैसा हमने गुरुओं से सुना है वैसा ही लिखते है।

> प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनो-
> विहाय संगृह्य तयोश्चिदात्मताम्।
> संशोधितां लक्षणया च लक्षितां
> ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत् ॥२६॥

अर्थ—जीवात्मा और परमात्मा में समीपता और दूरता के विरोध को त्याग कर उन दोनों में लक्षणावृत्ति से संशोधित लक्षित

अर्थ चैतन्यांश को ग्रहण करके अपने को आत्मा जानकर ब्रह्म के साथ अद्वयतत्त्व हो जाये।

व्याख्या—**प्रत्यक्**—अहंबुद्धि से जो जाना जाये वह प्रत्यक् अर्थात् अतिसमीप, प्रत्यक्ष जीवधर्म वाला 'त्वम्' पदका वाच्यार्थ **परोक्षादि**—जो दूर से जाना जाये, जो आँख से ओझल हो, ईश्वरधर्मवाला, 'तत्' पद का वाच्यार्थ, आदि पद से उपाधिभेद **विरोधम्**—प्रत्यक्षता अप्रत्यक्षता रूप विरोध, तथा उपाधि विरोध **आत्मनोः**—जीवात्मा और ईश्वर इन दोनों में से **विहाय**—छोड़कर, ईश्वर की माया अथवा कारण और जीव की अविद्या अथवा कार्य उपाधि, पंचकोश, दोनों की उपाधियों को त्याग कर **तयोः**—ईश्वर और जीव इन दोनों में उपाधि त्यागने के उपरान्त **चिदात्मताम्**—चेतनांश को, ईश्वर और जीव दोनों ही चेतन हैं, द्रष्टा हैं **संगृह्य**—ग्रहण करके कैसे ग्रहण करे? **संशोधिताम्**—युक्तियों से विचार पूर्वक **लक्षणया च लक्षिताम्**—लक्षणावृत्ति से लक्षित की हुई चेतनांश में एकता ग्रहण कर के, चकार का अर्थ है कि शक्तिवृत्ति से अर्थात् वाच्यार्थ से एकता सिद्ध नहीं हो सकती, **स्वम्**—ब्रह्म को ही **आत्मानम्**—आत्मा जानकर, वह परोक्ष सा भासनेवाला ब्रह्म वास्तव में प्रत्यक्ष मेरी ही आत्मा है **ज्ञात्वा**—इस प्रकार अपने आप को परमात्मा से अभेद जान कर, **अथ**—ब्रह्मात्मैक्यानुभव के उपरान्त **अद्वयः भवेत्**—एकतत्त्व सच्चिदानन्दघन पूर्ण परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त हो जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि तू सदा आत्मस्वरूप ही है, परन्तु मोहवश तू अपने को जीव जानता था, अब तू विस्मृतकंठचामीरन्याय से अपने स्वरूप को प्राप्त हो, जैसे कोई अपने कण्ठ में पड़ी स्वर्णमाला को भूल जाये और खोजता फिरे और किसी अन्य के वचन से कि तेरी माला तेरे गले में है उस वर्तमान माला को ही प्राप्त होता है, वैसे ही तू परमात्मा के साथ एकभाव को अर्थात् आत्मस्वरूप को प्राप्त हो।

यहां शब्दवृत्ति के विषय में थोड़ा सा बताना जरूरी है। जैसा हम ने गुरुओं से सुना है वैसा ही बताते हैं।

वेदों में असंख्य वाक्य हैं। जो वाक्य जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादन करे वह महावाक्य कहलाता है। चार वेदों के चार महावाक्य इस प्रकार है :—

(१) प्रज्ञानं ब्रह्म—ऋग्वेद
(२) अहं ब्रह्मास्मि—यजुर्वेद
(३) तत्त्वमसि—सामवेद
(४) अयमात्मा ब्रह्म—अथर्ववेद

पदार्थ बोध होने पर ही वाक्यार्थ बोध होता है। अतः वाक्यार्थ बोध के निमित्त पदों के अर्थों का विचार किया जाता है। 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य है। इस में तीन पद है तत्+त्वम्+असि। पद का अर्थ दो प्रकार का होता है, एक वाच्यार्थ, दूसरा लक्ष्यार्थ। पद का जो अर्थ से संबंध है उस को शब्द की वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति दो प्रकार की है। एक शक्तिवृत्ति, दूसरी लक्षणावृत्ति। शक्तिवृत्ति से पद के उच्चारणमात्र से विना प्रयास के अर्थ बोध हो जाता है। जहाँ शक्तिवृत्ति से अर्थज्ञान न हो वहां लक्षणावृत्ति करनी पड़ती है। यथा घट पद के उच्चारण से मृत्तिका का परिणामरूप गोलपेटवाले जलपात्र का बोध हो जाता है। परन्तु जहाँ पदों में शक्तिवृत्ति का अभाव हो वहाँ लक्षणा की सहायता लेनी पड़ती है।

अब 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तीन भिन्न पदों के अर्थों पर विचार करते हैं। इन तीन पदों में से प्रथम 'तत्' पद का शक्ति वृत्ति से अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्व-नियन्ता, सर्वानन्दरूप, परमदयालु, सर्वहितैषी, अत्यन्त स्वाधीन, मायाधीश, मायाविशिष्ट ईश्वर है।

दूसरे 'त्वम्' पद का अर्थ अल्पज्ञ, अल्पशक्ति परतन्त्र, कर्ता, भोक्ता दीन दुखी, देहेन्द्रिय प्राण अन्तःकरण में अभिमान करनेवाला, अविद्या के वशीभूत, अविद्याविशिष्ट जीव है।

तीसरे 'असि' पद का अर्थ 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों की

एकता स्थापन करता है। उद्दालक मुनि ने छान्दोग्योपनिषद में अपने पुत्र श्वेतकेतु को 'तत् त्वम् असि', परमेश्वर तू है, इस प्रकार दृढ़ता के लिये नव (९) वार उपदेश किया। अतः परमेश्वर और जीव की एकता प्रतिपादन करनेवाला यह 'तत्त्वमसि' महावाक्य है अर्थात् परमेश्वर जीव है।

पदों की शक्तिवृत्ति से परमेश्वर का जीव होना सिद्ध नहीं होता। सर्वज्ञतादि धर्मों से सम्पन्न माया विशिष्ट परमेश्वर, अल्पज्ञतादि धर्मों से युक्त अविद्याविशिष्ट जीव कैसे हो सकता है? परस्पर विरुद्ध धर्म होने से परमेश्वर और जीव की एकता शक्तिवृत्ति से सम्भव नहीं। इसी कारण महावाक्य के अर्थ में लक्षणावृत्ति का प्रयोग करना पड़ता है ।।२६।।

एकात्मकत्वाज्जहती न संभवे-
त्तथाऽजहल्लक्षणता विरोधतः।
सोऽयं पदार्थाविव भागलक्षणा
युज्येत तत्त्वम्पदयोरदोषतः ।।२७।।

अर्थ—'तत्' 'त्वम्' पदों के लक्षितार्थ में एकता होने के कारण जहती लक्षणा तथा वाच्यार्थों में विरोध के कारण अजहती लक्षणा उपयुक्त नहीं। 'वह यह' देवदत्त है इन पदार्थों में देवदत्त की एकता की भांति भागत्याग लक्षणा का दोषरहित उपयोग हो सकता है।

व्याख्या—लक्षणावृत्ति तीन प्रकार की होती है, जहती लक्षणा, अजहती लक्षणा तथा भागत्याग लक्षणा। महावाक्य का लक्ष्यार्थ दिखाने के लिये उपर्युक्त लक्षणाओं का परीक्षण किया जाता है। **तत् त्वम् पदयोः**—सर्वज्ञतादि लक्षणोंवाला ईश्वर तत् पद का वाच्यार्थ है। इस में सर्वज्ञतादि धर्म विशेषण है और ईश्वर विशेष्य है, जिस के विशेषण हों वह विशेष्य, और अल्पज्ञातादि लक्षणोंवाला जीव, त्वम् पद का वाच्यार्थ है। इस में अल्पज्ञतादि धर्म जीव के विशेषण हैं, जीव विशेष्य है। इन दोनों के लक्षित अर्थों में एकात्म-

कत्वात्---एकता होने से **जहती न सम्भवेत्**---जहती लक्षणा सम्भव नहीं, उपयुक्त नहीं, क्यों ? जहती लक्षणा में वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग करके वाच्यार्थ के संवन्धी का ग्रहण किया जाता है। यथा 'गंगायां घोषः' (गंगा में घोषियों का गांव है)। गंगा जलप्रवाह का नाम है। जल प्रवाह के बीच में गांव का होना असंभव है। अतः जलप्रवाहरूप वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग करके जलप्रवाहरूप वाच्यार्थ के संबंधी गंगा तट की लक्षणा करनी पड़ती है। अर्थात् गंगातट पर घोषियों का ग्राम है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद का वाच्यार्थ सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वर और 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ अल्पज्ञ अल्पशक्ति जीव, इन दोनों का सर्वथा परित्याग करके 'तत्' पद के वाच्यार्थ की संबंधी 'माया' और 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ की संबंधी 'अविद्या' इन दोनों की 'असि' पद से एकता सिद्ध होती है। सो असंगत है। अत्र हेतु, माया और अविद्या की एकता से वेदान्त का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वेदान्त अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादक है। माया और अविद्या की सत्यता में वेदान्त का प्रयोजन नहीं है। अतः 'तत्त्वमसि' महावाक्य में जहती लक्षणा किसी प्रकार भी संभव नहीं।

तथा अजहत्-लक्षणता विरोधतः न संभवेत्---जैसे जहती लक्षणा महावाक्य के अर्थ को लक्षित नहीं कर सकती वैसे ही अजहती लक्षणा भी लक्ष्यार्थ दिखाने में असमर्थ है, वाच्यार्थों के विशेषणों में विरोध के कारण। अजहती लक्षणा में वाच्यार्थ के संबंधी सहित वाच्यार्थ को ग्रहण करना पड़ता है यथा 'शोणो धावति' (लाल रंग दौड़ता है।) यहाँ वाच्यार्थ शोण है। लाल रंग के दौड़ने में कोई प्रसंग नहीं वनता। अतः अजहती लक्षणा की सहायता लेनी पड़ती है। लाल रंग का संबंधी घोड़ा है। अतः लाल रंग का घोड़ा दौड़ता है यह लक्ष्यार्थ हुआ।

'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद का वाच्यार्थ ईश्वर और ईश्वर की संबंधिनी माया, और 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ जीव और जीव

की संबंधिनी अविद्या—इन दोनों की एकता सिद्ध होती है। अर्थात् माया सहित परमेश्वर अविद्या सहित जीव है। माया सहित परमेश्वर और अविद्या सहित जीव इन दोनों की एकता करने में जीव का परमपरुषार्थ, मोक्ष, सिद्ध नहीं होता। वेदान्त शास्त्र अद्वैत ब्रह्म के ज्ञान से मोक्ष मानता है। ईश्वर जीव के ज्ञान से नहीं। अतः तत्त्वमसि महावाक्य में अजहती लक्षणा भी असंगत है। **भागलक्षणा 'सः अयम्' पदार्थौ इव अदोषतः युज्यते**—भागलक्षणा को भागत्याग लक्षणा अथवा जहत्यजहती लक्षणा भी कहते हैं। इस में विशेषण भाग–जिस में कि विरोध है अर्थात् सर्वज्ञतादि अल्पज्ञतादि-त्यागा जाता है और विशेष्य भाग—जिस में विरोध नहीं है और एकत्व है—ग्रहण किया जाता है। यही लक्षणा एकत्त्व और विरोध जोकि जहती और अजहती लक्षणाओं में दोष हैं, इन दोनों दोषों से रहित महावाक्य के लक्ष्यार्थ को वताने में उपयुक्त है।

भागत्याग लक्षणा से वाच्यार्थ में विरुद्ध अंश का परित्याग करके समान अंश में एकता की जाती है। यथा 'सोऽयं देवदत्तः योऽयं मया विंशतिवर्षपूर्वं काश्यां दृष्टः स एव इदानीं वर्तमानसमये कलकत्ता-नगर्यां विद्यते।' जो यह देवदत्त मेरे से बीस वर्ष पूर्व काशी में देखा गया था वही देवदत्त अव वर्तमान समय में कलकत्ता नगर में विद्यमान है। इस वाक्य में विरुद्ध अंश देश और काल का परित्याग करके देवदत्तमात्र में एकता होती है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' और 'त्वं' इन दोनों पदों के विशेषण माया और अविद्या, ये दोनों उपाधियां विरुद्ध अंश हैं। माया शुद्धसत्त्वगुणप्रधाना होती है और रजोगुण और तमोगुण को दवा कर रखती है, अविद्या मलिनसत्वगुणप्रधाना होती है और रजोगुण तमोगुण से आप दब जाती है। ईश्वर और जीव इन दोनों में चैतन्य अंश समान है। ईश्वर और जीव इन दोनों के विरुद्ध अंश अर्थात् माया और अविद्या का परित्याग करके चैतन्यांश में भागत्याग लक्षणा वृत्ति से एकता संगत है। ईश्वर में चैतन्यभाग ब्रह्म कहलाता

है और जीव में चैतन्य भाग कूटस्थ साक्षी प्रत्यगात्मा कहलाता है। अतः इन दोनों की एकता भाग-त्याग लक्षणा से ही सिद्ध होती है। अर्थात् ब्रह्म कूटस्थ आत्मा है। तू कूटस्थ आत्मा है। यह तत्त्वमसि का लक्षित अर्थ है।

'कूट' छल को कहते हैं। जो वस्तु ऊपर से गुणयुक्त प्रतीत होती हो और भीतर दोषों से भरी हो उस का नाम कूट, माया है। जो अविद्यादि अनेक संसारों के बीजभूत अन्तर्दोष से युक्त प्रकृति, माया, अव्याकृतादि शब्दों से कही जाती है, उस कूट, माया में जो उसके अधिष्ठान रूप से स्थिर हो रहा है, उसका नाम कूटस्थ। 'कूट' घन को भी कहते हैं। लोहकार घन पर लोहा कूटता है। जो कूट (घन) की भांति निष्क्रिय स्थित हो, उसे कूटस्थ कहते हैं ॥२७॥

रसादिपञ्चीकृतभूतसंभवं
भोगालयं दुःखसुखादिकर्मणाम् ।
शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं
मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः ॥२८॥

अर्थ—पृथ्वी आदि पंचीकृत महाभूतों से उत्पन्न, दुःख सुखादि फलों वाले कर्मों का भोग-स्थल, प्रारब्ध कर्म से उत्पन्न, जन्म-मृत्युयुक्त, मायाविरचित स्थूल शरीर को विद्वान् लोग आत्मा की स्थूल उपाधि जानते हैं।

व्याख्या—अब 'त्वम्' पद के अर्थ का शोधन करते हैं। जीव की अविद्या उपाधि है। उपाधि तीन प्रकार की है—स्थूल देह, सूक्ष्म देह तथा कारण देह। आत्मा इन तीनों उपाधियों का साक्षी, इन से पृथक् है। इन उपाधियों के निराकरण से जीव का अधिष्ठान कूटस्थ साक्षी शेष रहता है, वही तेरा स्वरूप है। अब तीन श्लोकों में तीनों शरीररूपी उपाधियों का निरूपण करते हैं। पहले स्थूल शरीर बताते हैं।

रसादि-पंचीकृत भूत-संभवम्—पृथ्वी, आदि पद से जल, अग्नि, वायु, तथा आकाश ये अवशेष चारों भूत लेने चाहियें। ये सूक्ष्म भूत व्यवहार के योग्य नहीं होते, इनको व्यवहार योग्य करने के लिये इनका पंचीकरण किया जाता है। पंचीकरण की विधि इस प्रकार है। प्रत्येक भूत के दो भाग करो। उदाहरण के लिये, पहले पृथ्वी का आधा भाग लो, उसमें बाकी चार भूतों के आधे भागों में से एक एक चौथाई लेकर मिलायें। इस प्रकार जो पृथ्वी बनी उसको पंचीकृत अथवा स्थूलभूत कहते हैं। अवशेष भूतों में भी ऐसा ही समझना। स्थूल पृथ्वी में आठ आना पृथ्वी तथा दो-दो आना अन्य चार भूत होते हैं। ऐसे ही स्थूल जल में आठ आना जल तथा दो-दो आना पृथ्वी, अग्नि, वायु और आकाश होते हैं। एक-एक भूत के पाँच भाग होते हैं, अतः इसे पंचीकरण कहते हैं। इन पाँच स्थूल भूतों से उत्पन्न, निर्मित

दुःख-सुखादि कर्मणाम् भोगालयम्—दुःख-सुखरूप फल वाले, आदि पद से शून्य फल वाले जो कर्म हैं उनके भोग, अनुभव का आश्रय-भूत स्थूलशरीर **आदिकर्मजम्**—यह प्रारब्ध कर्म से आरम्भ हुआ है, प्रारब्ध कर्मवश जन्म वाला **आदि-अन्तवत्**—उत्पत्ति विनाशशील, शरीर का जन्म भी होता है और नाश भी **मायामयम् स्थूलम् शरीरम्**—माया कल्पित, परमार्थ से नहीं, क्योंकि शरीर आदि अन्त वाला है, ऐसे स्थूल शरीर को **आत्मनः उपाधिम्**—आत्मा की उपाधि विद्वान् लोग जानते हैं। अगले श्लोक के 'विदुः बुधाः' इतने अंश को जोड़ लेना चाहिये। इसी प्रकार तीसवें श्लोक का उत्तरार्द्ध भी इस श्लोक में और अगले श्लोक में जोड़ना चाहिये। 'उपाधिभेदात्तु यतः पृथक् स्थितं स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत् क्रमात्'। उपाधि भेद से एक ही चैतन्य स्थूल, सूक्ष्म व कारण इन तीन प्रकार से भेदवाला हो कर पृथक्-पृथक् भासता है, उन-उन में से अविद्याकृत उपाधि को भागत्याग लक्षणा से निराकरण करके जो शेष रहे वही अपना स्वरूप है, इस प्रकार अन्तःकरण में धारण करे—श्रवण मनन निदिध्यासन करके नित्य प्राप्त आत्मा को प्राप्त करे। तात्पर्य यह है कि स्थूल देह आत्मा नहीं है, 'नेति', 'नेति' इति श्रुतिः ॥२८॥

सूक्ष्मं मनोबुद्धिदशेन्द्रियैर्युतं
प्राणैरपञ्चीकृतभूतसंभवम् ।
भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवे-
च्छरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः ॥२६॥

अर्थ——मन, बुद्धि, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचज्ञानेन्द्रिय, तथा पंच प्राणों से युक्त, अपंचीकृत महाभूतों से उत्पन्न, भोक्ता के सुखादि के अनुभव का साधन आत्मा की दूसरी उपाधि को विज्ञजन सूक्ष्म शरीर कहते हैं ।

व्याख्या——आत्माकी प्रथम स्थूल उपाधि वता कर, अव दूसरी सूक्ष्म उपाधि अर्थात् सूक्ष्म शरीर का निरूपण करते हैं ।

मनो-बुद्धि-दशेन्द्रियैः प्राणैः युतम्——यहाँ मन, बुद्धि को उपलक्षण से कहा है । चित्त अहंकार और जोड़ना चाहिये, अर्थात् अन्तः-करणचतुष्टय, पंच ज्ञानेन्द्रिय——श्रवण, नेत्र, रसना, घ्राण, त्वचा ये पंच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, पंच कर्मेन्द्रियां——वाणी, हाथ, पाँव, गुदा, लिंग ये पंच कर्मेन्द्रियाँ हैं, अर्थात् दश इन्द्रियाँ और प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान ये पंच प्राण हैं । इन सत्रह से युक्त **अपंचीकृत भूतसंभवम्**——आकाश, वायु, अग्नि, जल, तथा पृथ्वी इन सूक्ष्म पंच-भूतों से अर्थात् अपंचीकृत भूतों से (स्थूलभूतों से नहीं, स्थूल देह स्थूल भूतों से वनता है) उत्पन्न होता है, अतः अदृश्य है । **भोक्तुः सुखादेः अनुसाधनम्**——कर्ता भोक्ता जीव के सुख-दुःख अनुभव का साधन अर्थात् सूक्ष्म शरीर स्थूलशरीर में अनुगत है । सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर व्याप्त है । इसलिये स्थूल शरीर में बैठ कर सूक्ष्म शरीर सुख-दुःखादि का भोग करता है ।

आत्मनः अन्यत् सूक्ष्मम् शरीरम् भवेत्——आत्मा का सूक्ष्म संज्ञा वाला यह दूसरा शरीर है । सूक्ष्म शरीर को लिंग शरीर भी कहते हैं । सूक्ष्म शरीर आत्मा की दूसरी उपाधि है । **बुधाः विदुः**——विद्वान लोग, मूढ़ लोग नहीं, सूक्ष्म शरीर को आत्मा की दूसरी उपाधि

जानते हैं। अविद्याकृत होने से यह उपाधि सत्य नहीं, आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मा एक अद्वितीय तत्त्व है, जन्म-मरण से रहित अविकारी और अकर्ता, अभोक्ता है ॥२९॥

अनाद्यनिर्वाच्यमपीह　कारणं
मायाप्रधानं तु परं शरीरकम्।
उपाधिभेदात्तु यतः पृथक्स्थितं
स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत्क्रमात् ॥३०॥

अर्थ—अनादि अनिर्वचनीय, आत्मा की मायामय अतिसूक्ष्म तीसरी उपाधि को विज्ञजन कारणशरीर कहते हैं। उपाधि-भेद से पृथकता है, क्रम करके इन उपाधियों से अपने साक्षीरूप आत्मा को पृथक स्थित वुद्धि में चिश्चय करे।

व्याख्या—आत्मा की प्रथम स्थूल, फिर सूक्ष्म शरीररूप दूसरी उपाधि वता कर अव अतीव सूक्ष्म तीसरे शरीर अर्थात् कारण शरीर का निरूपण करते हैं।

अनादि—जिसका कोई आदि न हो, जिसके विषय में कोई भी यह नहीं कह सके कि अमुक तिथि से इसका जन्म हुआ है, ऐसी परमेश्वर की दिव्य गुणमयी शक्ति, माया, और कैसी है वह माया **अनिर्वाच्यम्**—जिसका विवेचन नहीं हो सके, जो न सत् है, न असत्, न भिन्न है न अभिन्न, न अंगवान है न अनंग, ऐसा अद्भुत, निरूपण में न आनेवाला, माया प्रधान कारण शरीर आत्मा की तीसरी उपाधि हैं। यह माया सत् नहीं, क्योंकि सत् तो केवल एक ब्रह्म है, न असत् है, क्योंकि असत् होने से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती, वाँझ का पूत किसी अन्य का जनन करने में समर्थ नहीं होता। यह माया न ब्रह्म से भिन्न है, क्योंकि शक्तिमान से उसकी शक्ति भिन्न नहीं होती और न अभिन्न है, क्योंकि माया विकारी होती है उसका अधिष्ठान ब्रह्म विकारी नहीं होता। **अपि इह**—स्थूल सूक्ष्म शरीर की भाँति यह कारणशरीर भी आत्मा की तीसरी उपाधि **मायाप्रधानम् तु**—माया से निर्मित है, माया

का ही नाम कारण शरीर है, 'तु' का प्रयोजन है कि यह तीसरी उपाधि भी आत्मा नहीं है। **परम् शरीरकम् कारणम्**—यह माया निर्मित कारणशरीर अत्यन्त सूक्ष्म है, स्थूल सूक्ष्म शरीरों का भी कारण होने से यह परम्; सर्वोत्कृष्ट कहलाता है। **उपाधिभेदात्**—उपाधि भेद से तीन शरीर हैं, वास्तव में नहीं, **यतः**—इन उपाधिकृत भेदों से **स्वात्मनम्**—अपने आत्मा को **क्रमात् पृथक् स्थितम्**—क्रम करके, स्थूल सूक्ष्म कारण शरीररूप उपाधि से पृथक्, स्थित जानो, साक्षी आत्मा इन उपाधियों का ज्ञाता, इनका प्रकाशक और अधिष्ठान है, अर्थात् उपाधियों के निराकरण के उपरान्त ये त्रिविध देह स्वाधिष्ठान आत्मा से भिन्न सत्तावाले नहीं रहते। इस प्रकार स्वरूप का **आत्मनि अवधारयेत्**—बुद्धि में निश्चय कर ॥३०॥

पञ्च स्वाधि

कोशेषु त्वयं तेषु तु तत्तदाकृति-
र्विभाति संगात्स्फटिकोपलो यथा।
असंगरूपोऽयमजो यतोऽद्वयो
विज्ञायतेऽस्मिन्परितो विचारिते ॥३१॥

अर्थ—जैसे (लाल पुष्प के) संग से स्वच्छ स्फटिक मणि (लाल-सी भासती है) वैसे से उन-उन कोशों (पंचकोशों) से तादात्म्य करके यह असंग आत्मा भी उसी-उसी कोश की आकृति वाला हुआ भासता है। इस स्थिति पर सम्यक् विचार करने से यह आत्मा अजन्मा अतएव, निर्द्वय जाना जाता है।

व्याख्या—यदि आत्मा उपाधियों से पृथक् है तो स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर हो कर क्यों भासता है? इस शंका को दृष्टि में रख कर कहते हैं। **यथा**—जैसे **संगात् स्फटिकोपलः**—स्फटिक मणि स्वतः तो स्वच्छ होती है, परन्तु यदि उसको लाल पुष्प पर रख दिया जाये तो वह मणि लाल भासने लगती है, स्वरूप से वह मणि लाल नहीं है, पुष्प का लाल रंग मणि में आरोपित सा हो गया है। मूढ़ों को वह मणि लाल वर्ण की भासती है, विज्ञों को स्वच्छ भासती है। (तथा) **तेषु**

कोशेषु अयम्——उसी प्रकार यह आत्मा भी उन-उन कोशों के संग से असंगरूपः नु——असंग रूप साक्षी होता हुआ भी 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिः, यह आत्मा असंग है, साक्षी द्रष्टा है, साक्षी में साक्ष्य के धर्म प्रवेश नहीं करते यह सिद्धान्त है। 'असंगो न हि सज्यते' इति श्रुतिः, बृहदारण्यक ४।५।१५। असंग लिपायमान नहीं होता, तो भी तत्-तत् आकृतिः विभाति——संग दोष से, जिस-जिस कोश के साथ आत्मा का तादात्म्य सा होता है, आत्मा उसी आकार का हो जाता है। जब आत्मा का तादात्म्य स्थूल देह से होता है, तो वह अपने आप को स्थूल देह जानता है। ' मैं ब्राह्मण हूँ, अमुक मेरे माता-पिता हैं, मैं कृष हूँ स्थूल हूँ इत्यादि ऐसा जानता है। पूर्वोक्त उपाधियों में ही पंच कोश होते हैं। स्थूल देह को अन्नमय कोश कहते हैं, सूक्ष्म शरीर में तीन कोश सम्मिलित हैं: प्राण-प्रधान प्राणमय कोश, मन-प्रधान मनोमय कोश, बुद्धि-प्रधान विज्ञानमय कोश, तथा कारण शरीर को आनन्दमय कोश कहते हैं। जिस जिस कोश के साथ अज्ञानवश आत्मा का तादात्म्य होता है, आत्मा उसी उसी के धर्मों को अपने धर्म करके दिखाता है। परितः अस्मिन् विचारिते—अच्छे प्रकार इस विषय पर विचार करने पर, मूंज (सरकंडा) के छिलके तोड़-तोड़ कर जैसे सींक को निकालते हैं वैसे ही आत्मा अनात्मा का विचार करके, अनात्म वस्तु का महावाक्य द्वारा संशोधन से परित्याग कर आत्मा को ग्रहण करने पर अयम् तु अजः——यह आत्मा तो अजन्मा है 'अजो नित्यः' इति कठश्रुतिः १।२।१८ 'तु' शब्द से कोशों का अजन्मा होना वाधित किया है।

यतः——अतःएव अद्वयः——द्वैतहीन, एकतत्त्व, विजातीय-सजातीय-स्वगत भेद शून्य एक, 'एकमेवाद्वितीयम्' इति छान्दोग्यश्रुतिः ६।२।१ उपाधिकृतभेदरहित विज्ञायते——विशेष रूप से जाना जाता है, अनुभव से जाना जाता है, विचार-रहित पुरुष उसको नानाविध जानता है, एकरूप नहीं ॥३१॥

बुद्धेस्त्रिधा वृत्तिरपीह दृश्यते
स्वप्नादिभेदेन गुणत्रयात्मनः।

अन्योन्यतोऽस्मिन्व्यभिचारतो मृषा
नित्ये परे ब्रह्मणि केवले शिवे ॥३२॥

अर्थ—तीन गुणों वाली बुद्धि की स्वप्नादि भेद से तीन प्रकार की अवस्थाएं भी यहाँ (उपाधियों में) देखी जाती है। ये तीनों अवस्था आपस में एक दूसरे से वाधित होने के कारण मिथ्या हैं, ये अवस्थाएं नित्य, परमसूक्ष्म, अद्वय, मंगलमय ब्रह्म में नहीं हैं।

व्याख्या—आपने त्रिदेहों का तो निराकरण कर दिया, परन्तु जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के विषय में कुछ भी नहीं कहा, क्या ये सत्य हैं, अथवा असत्य ? इस शंका को दृष्टि में रख कर रामजी कहते हैं।

गुणत्रयात्मनः—सात्विक, राजस, तामस—इन तीन गुणों से वनी बुद्धेः—अन्तःकरण की स्वप्नादिभेदेन—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन भेदों से त्रिधा वृत्तिः अपि—तीन अवस्थाएं भी इह दृश्यते—यहाँ, अर्थात् उपाधि भेदों में देखी जाती हैं। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्था बुद्धि के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन तीन शरीरों की क्रमशः मुख्य अभिव्यक्ति जाग्रत् स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्था में होती है। जाग्रदवस्था सत्त्वगुणी, स्वप्नावस्था रजोगुणी तथा सुषुप्ति अवस्था तमोमयी होती है।

अन्योन्यतः व्यभिचारतः मृषा—ये तीनों अवस्थाएं एक दूसरे से बाधित हो जाती हैं, अतः ये मिथ्या हैं।

स्वप्नो जागरणेऽलीकः स्वप्नेऽपि जागरो न हि।
द्वयमेव लये नास्ति लयोऽपि ह्युभयो र्न च ॥४।११
त्रयमेव भवेन्मिथ्या गुणत्रयविनिर्मितम्।
अस्य द्रष्टा गुणातीतो नित्यो ह्येकश्चिदात्मकः ॥४।१२

—योगशिखोपनिषद

जाग्रदवस्था में स्वप्न मिथ्या हो जाता है, स्वप्न में जागृति नहीं रहती तथा सुषुप्ति में जाग्रत् स्वप्न दोनों ही नहीं रहते और इन दोनों में सुषुप्ति भी नहीं रहती। ये तीनों अवस्थाएं सत्, रज, तम—इन तीन गुणों से उत्पन्न होने के कारण मिथ्या हैं, परन्तु इन तीनों का द्रष्टा ही गुणों से परे सद्रूप एक और चित्स्वरूप है। इसलिये **नित्ये**-त्रिकाल अबाध्य **परे**—मायातीत **केवले**—शुद्ध, अद्वय **शिवे**—मंगलमय **अस्मिन् ब्रह्मणि**—इस नित्य प्राप्त ब्रह्म में तीनों अवस्थाओं की कल्पना मिथ्या है। अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति ये आत्मा के धर्म नहीं, बुद्धि के हैं, अतः आत्मा इन अवस्थाओं का साक्षी, इनसे भिन्न है। त्रिदेहों की भाँति अवस्थाओं को भी अनात्म बुद्धि के धर्म जान कर इनका स्वरूप से निराकरण करो ॥३२॥

देहेन्द्रियप्राणमनश्चिदात्मनां
संघादजस्रं परिवर्तते धियः।
वृत्तिस्तमोमूलतयाऽज्ञलक्षणा
यावद्भवेत्तावदसौ भवोद्भवः ॥३३॥

अर्थ—देह, इन्द्रियगण, प्राण, मन चेतनात्मा—इन से साथ तादात्म्य करके बुद्धिवृत्ति निरन्तर बदलती रहती है, तमोमूला होने से वृत्ति अज्ञानलक्षण वाली है। जब तक वृत्ति रहेगी तब तक संसार का उदय रहेगा।

व्याख्या—देह-इन्द्रिय-प्राण-मनः-चिदात्मनाम्—स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणशरीर, ज्ञानकर्मेन्द्रियाँ, पंचप्राण मन बुद्धि आदि अन्तःकरणचतुष्टय तथा चेतनात्मा इनके **संघात्**—समुदाय से मिल कर, इनके साथ तादात्म्य करने से **धियः वृत्तिः**—अन्तः करण का परिणाम, वृत्ति **अजस्रम् परिवर्तते**—निरन्तर बदलती रहती है। वृत्ति ही बंध मोक्ष का कारण है। जब वृत्ति देह को ग्रहण करेगी तो देहाकार हो जायेगी, इन्द्रियों को ग्रहण करेगी तो इन्द्रियाकार हो जायेगी। जिस-जिस पदार्थ के साथ चित्तवृत्ति का संयोग होगा, उसी भाव की

उसको प्राप्ति होगी। आत्मा के साथ जब चित्तवृत्ति का संयोग होगा, तो वह वृत्ति ब्रह्माकार, समाधि कहलायेगी।

'भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता।
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत्' ॥
तेजोबिन्दूपनिषद ।४२।

पदार्थग्राहिणी वृत्ति से पदार्थाकारता, शून्यवृत्ति से जड़ता तथा ब्रह्माकारवृत्ति से पूर्णत्व की प्राप्ति होती है। अतः ब्रह्माकारवृत्ति का अभ्यास करे।

देह-प्राणेन्द्रिय-मनो-बुद्ध्यादिभिरुपाधिभिः।
यैर्यैर्वृत्तेः समायोगस्तत्तद्भावोऽस्य योगिनः ॥३७६॥
विवेकचूडामणि

देह, प्राण, ज्ञानकर्मेन्द्रिय, मन बुद्धि आदि जिस जिस उपाधि से योगी की चित्तवृत्ति का संयोग होगा, उसी-उसी भाव को वह प्राप्त होगा। जब वृत्ति आत्मा को विषय करेगी तो वह ब्रह्माकार हो जायेगी।

पदार्थग्राहिणी वृत्ति **अज्ञलक्षणा**—अज्ञान लक्षणवाली है, जब तक वृत्ति घटपटादि पदार्थों को सत्यरूप से ग्रहण करेगी तब तक वह अज्ञान सूचक है, अत्र हेतु **तमोमूलतया**—क्योंकि वृत्ति का मूल तमोगुण की शक्ति आवरण है। आवरणशक्ति से ब्रह्म का स्वरूप ढांप दिया जाता है जैसे बादल से सूर्य। सर्वाधिष्ठान ब्रह्म न दिखाई देकर जगत दिखाई देता है। यह आवरण शक्ति अत्यन्त मोहिनी भी है, इस का डाला हुआ पर्दा सहज नहीं टूटता। तमोमूला उपलक्षण से कहा गया है। यह वृत्ति रजोमूला भी है। रजोगुण की शक्ति का नाम विक्षेप है। विक्षेप का अर्थ है चंचलता। आवरण द्वारा स्वरूपाच्छादन किया जाने पर अनात्मधी का उदय होता है। आवरण, विक्षेप का, प्रसार हेतु है। विक्षेप से ताड़ित मूढ़ सोचता है, 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा अमुक कर्त्तव्य है, मैं विद्योपार्जन बलो-

पार्जन करूँगा, मैं दु:खी हूँ, अमुक कार्य से मैं सुखी हूँगा' इत्यादि सहस्रों विक्षेप उदय होते हैं। 'क्षपयति वहुदु:खैस्तीव्रविक्षेपशक्ति:' तीक्ष्ण विक्षेपशक्ति मूढ़बुद्धि को वहुत नचाती है। यदि वृत्ति केवल तमोमूला होती तो देहात्मबुद्धि का प्रसार नहीं हो पाता, क्योंकि 'अज्ञानमालस्य-जडत्व-निद्रा–प्रमाद-मूढत्वमुखास्तमोगुणा:।' अज्ञान, आलस्य, जड़ता, निद्रा, प्रमाद, मूढ़ता आदि तमोगुण के धर्म हैं। तमोगुण में विक्षेप उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती। अत: तमोमूला कहने से रजोमूला भी ग्रहण करनी चाहिये। **यावत् भवेत्**—जव तक तमोगुण रजोगुण से प्रधानत: व्याप्त वृत्ति स्वरूप का अयथार्थ विषय करेगी, अर्थात् दृश्य प्रपंच को, पंचकोशों को सत्यत्व-वुद्धि से स्वीकार करेगी, व्रह्म को विषय नहीं करेगी **तावत् असौ भव-उद्भव:**—तव तक वह मिथ्याभूत संसार सत्यरूप हो कर उदय होता रहेगा। जव वृत्ति के तमोगुण और रजोगुण दोनों ही सत्त्व गुण के प्रावल्य से धर्षित होंगे, तव सत्त्वगुणप्रधाना हुई वृत्ति स्वरूप को विषय करेगी। समस्त ज्ञानसाधन का सार वृत्ति में सत्त्वगुण की अभिवृद्धि करना है।

नेतिप्रमाणेन निराकृताखिलो
हृदा समास्वादितचिद्घनामृतः।
त्यजेदशेषं जगदात्तसद्रसं
पीत्वा यथाऽम्भः प्रजहाति तत्फलम् ॥३४॥

अर्थ—'यह आत्मा नहीं है' इस श्रुतिप्रमाण से समस्त उपाधियों का निराकरण करके, ,चेतनघनानन्द का हृदय में रस चख कर, जगत् को, उस में से सत्, व्रह्म, उस का रस, आनन्द ग्रहण करके नि:शेष रूप से त्याग दे जैसे तृषार्त कच्चे नारियल का जल पीकर उसे फेंक देता है।

व्याख्या—**नेति प्रमाणेन**—'अथात आदेशो नेति-नेति' इति

श्रुतिः, बृहदारण्यकोपनिषद २।३।६।, श्रुति का ऐसा आदेश है कि यह आत्मा नहीं है, यह आत्मा नहीं है। इस आदेश के प्रमाण से **निराकृताखिलः**—समस्त दृश्य पदार्थों का निराकरण कर दिया है ब्रह्म में से जिस ने। देह, इन्द्रिय, प्राण मन इनको अनात्म समझ कर असत्य जान कर निरादर कर दिया है जिस ने, वह **हृदा**—सत्त्वगुण-प्रधान अन्तःकरण से **समास्वादितचिद्घनामृतः**—चेतनघन, ब्रह्मानन्द का आस्वादन किया है जिस ने, चित्—ब्रह्म, घनामृत—उस का गाढ़ा आनन्द, उस को अच्छे प्रकार चखा है जिसने, वह **जगत्**—संसार को, आकाश से लेकर स्थूलदेह पर्यन्त **अशेषम्**—निःशेष, सर्वथा **त्यजेत्**—असत् मायिक समझ कर त्याग दे, कैसे जगत् को ? **आत्त सत् रसम्**—जिस में से सत्, अधिष्ठानरूप, रस, ब्रह्म को प्राप्त कर लिया गया है। जगत् का नामरूपात्मक भाग असत् मायाकल्पित है, और उसका अस्ति भाति प्रियरूपता भाग सच्चिदानन्द परमात्मा है, अब दृष्टान्त देते हैं। **यथा**—जैसे **अम्भः पीत्वा**—तृषार्त कच्चे नारियल का जल पीकर, उस का सारभूत रस पीकर **तत्फलम् प्रजहाति**—अर्थरहित जलाधार फल के आवरण को त्याग देता है ॥३४॥

कदाचिदात्मा न मृतो न जायते
न क्षीयते नापि विवर्धतेऽनवः।
निरस्तसर्वातिशयः सुखात्मकः
स्वयंप्रभः सर्वगतोऽयमद्वयः ॥३५॥

अर्थ—यह आत्मा न कभी जन्म लेता है, न बढ़ता है, न घटता है और न ही मरता है, यह सदा ही अनवीन निःशेष—उपाधि रहित, सुखरूप स्वयं प्रकाश, सर्वव्यापी और एकतत्त्व है।

व्याख्या—पूर्व श्लोक में कहा कि जगत् के अधिष्ठान चैतन्य को ग्रहण करे, नामरूप को त्याग दे। अब बताते है कि उपाधियों की भान्ति, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणशरीर की भांति आत्मा विकारी नहीं है,

वह नित्य है । **अयम् आत्मा**—यह नित्यशुद्धबुद्धमुक्त आत्मा, साक्षी कूटस्थ चैतन्य आत्मा **कदाचित् न जायते**—किसी काल में भी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि यह अजन्मा है,'अजो नित्यः' इति कठश्रुतिः१।२।२८ **न विवर्धते**—जब उत्पन्न ही नहीं हुआ तो बढ़ता भी नहीं, **न क्षीयते**—और न ही घटता है **न अपि मृतः**—जब जन्मता ही नहीं तो मरेगा कहाँ से, मरता भी नहीं, 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।' इति श्रुतिः, यह आत्मा अन्तर्यामी अमर है। यह सदा ही **अनवः**—शाश्वत, पुराण है, नया नहीं है, उत्पन्न होकर जो विद्यमान हो वह नव, इस के विपरीत अनव । 'अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा ।' इति श्रुतिः बृहदारण्यक ४।५।१४ अरे यह आत्मा नाशरहित है। वह आत्मा और कैसा है । **निरस्तसर्वातिशयः**—नेति प्रमाण से असत् कह कर निषिध्य हो गई हैं सर्व—त्रिविध स्थूल सूक्ष्म कारणदेह रूप उपाधियाँ, जिसमें से, वह, किस प्रकार ? अतिशय रूप से अर्थात् आत्मा में उपाधियों की रंचमात्र गंध भी नहीं है । उपाधियों का निशेष निराकरण हो गया है जिस आत्मा में से वह शुद्ध अन्यामिश्रित एकतत्त्व आत्मा **सुखात्मकः**—आनन्दरूप, 'आनन्दो ब्रह्म' इति श्रुतिः, तैत्तिरीयोपनिषद, भृगुवल्ली छठा अनुवाक् ब्रह्म आनन्द रूप है, **स्वयंप्रभः**—स्वयं प्रकाश, 'स्वयंज्योतिः' इति श्रुतिः बृहदारण्यक ४।३।६ अपरप्रकाश्य **सर्वगतः**—सर्वव्यापी, सर्वाधिष्ठान **अद्वयः**—एकतत्त्व, द्वैतरहित, निर्भेद ।

इस के विपरीत उपाधियों के तो नाम रूप हैं, आदि अन्त होने से दुःखद, परप्रकाश्य होने से जड़, परिच्छिन्न होने से एकदेशगत, तथा नाना अवयवों से गठित होने से अनात्मक असत् द्वैतपूर्ण हैं। इस श्लोक में आत्मा को षड्भावविकार रहित बताया है। षड्भाव विकार इस प्रकार हैं :—जायते—पैदा होना, अस्ति—होना, विपरिणमते—परिवर्तन होना, वर्धते-बढ़ना । अपक्षीयते—घटना तथा नश्यति—नाश को प्राप्त होना। आत्मा उत्पत्तिरहित अविनाशी है। इस श्लोक के प्रथम दो चरण कठश्रुति १।२।१८ के प्रथमार्ध के अनुवादमात्र हैं, 'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न न बभूव कश्चित् ।'

एवंविधे ज्ञानमये सुखात्मके
कथं भवो दुःखमयः प्रतीयते।
अज्ञानतोऽध्यासवशात्प्रकाशते
ज्ञाने विलीयेत विरोधतः क्षणात् ॥३६॥

अर्थ—इस प्रकार के निर्विकार, ज्ञानरूप, सुखरूप आत्मा में दुःखमय संसार क्यों प्रतीत होता है? स्वरूप के अज्ञान के कारण अनात्मवस्तुओं के संगदोष से ब्रह्म में संसार प्रकाशता है, इस लिये अज्ञान के विरोधी ज्ञान में अज्ञान को तत्क्षण लीन करे।

व्याख्या—यदि आत्मा सुखरूप है तो दुःखस्वरूप संसार क्यों दिखाई पड़ता है? इस पर कहते हैं। एवम्विधे—विकारशून्य सत्स्वरूप आत्मा में ज्ञानमये—ज्ञानस्वरूप, बोधरूप स्वयंप्रकाश तथा सुखात्मके—आनन्दरूप आत्मा में भवः—जननमरणादि प्रवाह रूप विकारी, जड़, परप्रकाश्य संसार और कैसा दुःखमयः—जन्म-मृत्युजराव्याधिदुःखप्रचुर संसार कथम्—किस कारण से प्रतीयते—दिखाई पड़ता है? यदि आत्मा सुखरूप और एकतत्त्व है तो उसमें दुःखरूप वहुनामाकार वाला संसार कैसे भासता है? अब इस प्रश्न का उत्तर श्लोक के पश्चिमभाग में देते हैं। अज्ञानतः—स्व-स्वरूप, आत्मा के अज्ञान के कारण अध्यासवशात्—अनात्म वस्तुओं के धर्मों को आत्मा में आरोपण करने से प्रकाशते—दुःखमय भव प्रकाशित होता है, भासता है।

अज्ञान के अर्थात् परमेश्वर की अव्यक्त नाम वाली शक्ति के दो शस्त्र हैं। एक आवरण शक्ति, दूसरी विक्षेप शक्ति। आवरण स्वरूप को ढक देती है जिस से आत्मा का स्वरूप न दिखाई देखकर भव दिखाई देता है, अंधकार में जैसे रज्जु सर्प दिखाई दे। यह अत्यन्त मोहिनी शक्ति है, इस का प्रभाव वारम्वार समझाने पर भी नहीं हटता। विक्षेपशक्ति संसार का प्रसार करती है, कामक्रोध मोह मद लोभादि घोर धर्मों के प्रयोग से मोहित पुरुष को विक्षिप्त, चंचल

करती है। स्वरूपाच्छादन होने से, 'ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बंधस्ततो व्यथा।' विवेकचूडामणिः ।।३२२।। मोह उत्पन्न होता है, मोह से अहंकार, अहंकार से बंधन और बंधन से व्यथा। अध्यास का अर्थ है भ्रान्ति। देह-इन्द्र-प्राण-अन्तकरण इत्यादि में अहंकार करना, आत्मबुद्धि करना अध्यास कहलाता है।

यदि ऐसा है तो संसार से छुटकारा कैसे मिले? **ज्ञाने विरोधतः क्षणात् विलीयते**—ज्ञान में अज्ञान को विशेष रूप से लय करे। क्यों? ज्ञान अज्ञान का विरोधी, नांशक है। कर्मोपासना से अज्ञानमूल संसार विवेक-प्रलय को प्राप्त नहीं होता, कर्मोपासना अज्ञानजन्य होने से, 'विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी, न कर्म तज्जम्', ज्ञान से क्षण भर में नष्ट हो जाता है, जैसे स्वप्नकाल की महाविशाल सृष्टि जागने पर तत्क्षण लय हो जाती है, ऐसे ही स्वस्वरूप का ज्ञान होने पर इस में आरोपित वस्तु तुरन्त नष्ट हो जाती हैं अर्थात् नामाकार खोकर ब्रह्मरूप हो जाती है ।।३६।।

यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमा-
दध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः ।
असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा
रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत् ।।३७।।

अर्थ—भ्रमवश जो अन्य वस्तु की (जगत की) दूसरी वस्तु में (ब्रह्म में) प्रतीति है उसको विद्वान लोग अध्यास (भ्रान्ति) कहते हैं। जैसे सर्प से भिन्न रज्जु आदि में सर्पदर्शन, वैसे ही ब्रह्म में जगदारोपण।

व्याख्या—आपने पूर्व श्लोक में अध्यास को जगत का कारण बताया है वह अध्यास क्या होता है? इस पर अध्यास के लक्षण कहते हैं। **यत्**—जो **अन्यत्**—अन्य को, संसार को **अन्यत्र**—दूसरी वस्तु में, ब्रह्म में **भ्रमात्**—अज्ञान के कारण **विभाव्यते**—आरोपण करना है, विज्ञापित करना है **विपश्चितः**—विद्वान लोग, तत्त्वज्ञ **अमुम्**—उसको **अध्यासम् इति आहुः**—अध्यास कहते हैं। देहेन्द्रिय,

प्राण, अन्तःकरण के धर्मों को आत्मा में, दूसरे में आरोपण करना अध्यास, भ्रम कहलाता है। अब दृष्टान्त से इस को स्पष्ट करते हैं। **असर्पभूते रज्जु-आदिके**—जो सर्प नहीं है ऐसे रज्जु आदि में, आदि पद से जो चाँदी नहीं है ऐसी सीपी में **यथा**—जैसे **अहि-विभावनम्**—सर्प का आरोपण, आदि पद से चांदी का आरोपण है, अन्य के धर्म को अन्य में आरोपण करना अध्यास कहाता है। **तद्वत्**—उसी प्रकार **ईश्वरे**—ब्रह्म में **जगत्**—जगत अध्यास से आरोपित है। है तो रस्सी परन्तु मंदांधकार के कारण भासती है सर्पिणी, है तो ब्रह्म परन्तु अज्ञानमूलक अध्यास से भासता है जगत्।

इस को वेदान्त में विवर्तवाद कहते हैं। जब कोई वस्तु अपने स्वरूप को विना त्यागे दूसरे का स्वरूप दिखाये उसे विवर्त कहते हैं। सर्प जैसे रस्सी का विवर्त है। चांदी जैसे सीपी का विवर्त है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त, माया का परिणाम है। भगवान शंकराचार्य ने विवर्तवाद को ग्रहण किया है ॥

यथैव व्योम्नि नीलत्वं यथा नीरं मरुस्थले ।
पुरुषत्वं यथा स्थणौ तद्वद्विश्वं चिदात्मनि ॥६१॥
यथैव शून्ये वैतालो गन्धर्वाणां पुरं यथा ।
यथाकाशे द्विचन्द्रत्वं तद्वत्सत्ये जगत्स्थितिः ॥६२॥
अपरोक्षानुभूतिः ।

जैसे आकाश में नीलता, मरुभूमि में जल और ठूंठ में चौर की प्रतीति होती है उसी प्रकार चेतनात्मा में विश्व भासता है। जैसे ही शून्य में वैताल, आकाश में गन्धर्व नगर, तथा आकाश में दो चन्द्रमाओं की स्थिति है, वैसे ही सत् में जगत् की स्थिति है।

अब से पहले जगत् त्यागने का उपदेश दिया था। अब ब्रह्मविद्या की प्रक्रिया का कुछ ज्ञान करा कर जगत् को ब्रह्म में अध्यस्त ब्रह्म से अभिन्न वताया है, क्योंकि अध्यस्त वस्तु की अपने अधिष्ठान से भिन्न सत्ता नहीं होती ॥३७॥

विकल्पमायारहिते चिदात्मके-
ऽहंकार एष प्रथमः प्रकल्पितः ।
अध्यास एवात्मनि सर्वकारणे
निरामये ब्रह्मणि केवले परे ॥३८॥

अर्थ—माया के नानात्व से रहित, चेतन, सर्वाधिष्ठान, निर्दोष, शुद्ध परम ब्रह्म में सब से पहले अहंकार की कल्पना की गई है। यह आत्मा में अध्यास है।

व्याख्या—विकाररहित ब्रह्म में सृष्टि का उदय कैसे हुआ? इस पर कहते हैं। **विकल्पमायारहिते**—भेदक माया से रहित, माया के नानात्व से रहित, निर्विकल्प अद्वैत ब्रह्म में **चिदात्मके**—बोधरूप **सर्वकारणे**—भव के निमित्तोपादन कारण, सर्वाधिष्ठान **निरामये**—सर्वोपद्रवरहित, विक्षेपरहित, निश्चल, आनन्दरूप **केवले**—शुद्ध **परे**—मायातीत, माया के गुणों से असंस्पृष्ट **ब्रह्मणि**—इस प्रकार का जो ब्रह्म है, उसमें **अहंकारः प्रथमः प्रकल्पितः**—माया द्वारा, अन्य किसी कारण से सम्भव नहीं, अहंकार की सब से पहले कल्पना की है, वास्तव में नहीं है। अहंकार माया का प्रथम विकार है।

'सन्त्यन्ये प्रतिबन्धाः पुंसः संसारहेतवः दृष्टाः ।
तेषामेव मूलं प्रथमविकारः भवत्यहंकारः ॥२९९॥

विवेक चूडामणि ।

संसार के हेतु अन्य भी बहुत से प्रतिबंध हैं, उन में मूल हेतु माया का प्रथम विकार अहंकार है। देहेन्द्रियप्राण में आत्मा का, स्वस्वरूप का अभिमान करना अहंकार कहलाता है। इसी के कारण जीव अपने को कर्ताभोक्ता जानता है। **एषः अध्यासः एव आत्मनि**—यही अहंकार आत्मा पर अध्यास है, मिथ्यारोपण है। आत्मा में कर्ताभोक्तापन नहीं हैं, अध्यास के कारण वह अपने को कर्ताभोक्ता जानता है, परमार्थ में अहंकार की उत्पत्ति नहीं है ॥

महर्षि वसिष्ठजी और भगवत्पूज्यापाद गौड़पादाचार्य, आदिगुरु भगवान शंकराचार्य के शरीर के दादा गुरु का वेदान्त में अजातवाद प्रसिद्ध है। उनका कहना है कि तीनकाल में भी सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई। आत्मदेव स्वमहिमा में ज्यों के त्यों स्थिर हैं। मणि की लुपलुप की भांति सृष्टि की अभिव्यक्ति और लय भासते हैं ।।३८।।

इच्छादिरागादिसुखादिधर्मकाः
सदा धियः संसृतिहेतवः परे।
यस्मात्प्रसुप्तौ तदभावतः परः
सुखस्वरूपेण विभाव्यते हि सः ॥३९॥

अर्थ—इच्छा आदि, राग आदि, सुख आदि धर्म निस्संदेह बुद्धि के ही हैं, इन को परमात्मा में आरोपण करने से ये संसार के हेतु वन जाते हैं, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि के अपने कारण में विलीन होने से वह परमात्मा ही सुखरूप से अनुभूत होता है।

व्याख्या—अहंकार के अतिरिक्त संसार के अन्य हेतु वताते हैं। वे भी सव कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं। **इच्छादि-रागादि-सुखादि धर्मकाः**—वासना, आदि पद से उपेक्षा अथवा अनिच्छा, राग—आसक्ति, आदि पद से विराग, सुख—अनुकूलवेदना, आदि पद से प्रतिकूल वेदना दुःख, ये द्वन्द्वधर्म **सदा धियः एव**—निस्सन्देह बुद्धि, अन्तःकरण के ही हैं, 'एव' कह कर इन धर्मों का आत्मा में से निराकरण किया है। इन का **परे**—ब्रह्म में आरोपण करने से, मेरी यह वासना है, मुझे विषयों में राग है इत्यादि धर्मों को साक्षी आत्मा पर लादने से **संसृतिहेतवः**—इच्छादिरागादिसुखादि संसार वन्ध के हेतु वन जाते हैं। आप कौन युक्ति से कहते हैं कि इच्छादि धर्म बुद्धि के हैं, आत्मा के नहीं हैं? युक्ति वताते हैं। **यस्मात्**—क्योंकि **प्रसुप्तौ**—सुषुप्ति अवस्था में **तत्-अभावात्**—बुद्धि के अपने कारण अविद्या में विलीन होने पर, बीजरूप से अवस्था करने पर, इच्छादिरागादि का अभाव हो जाता है, तव क्या हो जाता है? **सः हि**

परः—केवल वह परमात्मा ही सुखस्वरूपेण विभाव्यते—सुखरूप से अनुभूत होता है, अज्ञानाच्छादित आनन्द का अनुभुव होता है।

सुषुप्ति अवस्था से जागने पर मनुष्य कहता है कि मैं बहुत सुख से सोया, कुछ खबर नहीं रही। सर्व का यही अनुभव है। सुख से सोना आनन्द का द्योतक है, कुछ खबर नहीं रही यह अज्ञान का द्योतक है। बुद्धि के धर्म जो कि संसार के हेतु हैं, बुद्धि सहित अपने कारण अज्ञान में डूब जाते हैं। उन का सुषुप्ति में अनुभव नहीं होता। जाग्रत् स्वप्न दोनों अवस्थाओं का भी अनुभव नहीं होता। यदि इच्छादि तथा अहंकार आत्मा के धर्म होते तो सुषुप्ति में इनका वाध नहीं होता, क्योंकि आत्मा का, सर्वसाक्षी, संगरहित होने से किसी काल में वाध नहीं होता। वह सुषुप्ति को भी प्रकाशित करता है, उस का भी साक्षी है। परन्तु सुषुप्ति में इच्छादि रागादि सुखादि धर्मवाला संसार नहीं रहता। प्रयोजन यह है कि संसार केवल बुद्धिनिष्ठ देहाभिमानी के लिये है, तत्त्वज्ञ के लिये नहीं ॥३९॥

अनाद्यविद्योद्भवबुद्धिबिम्बितो
जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः।
आत्मा धियः साक्षितया पृथक् स्थितो।
बुद्ध्यापरिच्छिन्नपरः स एव हि ॥४०॥

अर्थ—अनादि अविद्या से उत्पन्न बुद्धि में प्रतिफलित चेतन आत्मा का प्रकाश ही जीव कहा जाता है। आत्मा साक्षीरूप से बुद्धि से पृथक् रहता है। बुद्धिवृत्ति से जो असीमित है वही परमात्मा है।

व्याख्या—अब पुनः 'तत्', 'त्वम्' पदार्थों के स्वरूप को कहते हैं। 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ जीव क्या है? अनादि-अविद्या-उद्भव-बुद्धिबिम्बितः—अनादि अज्ञान से उत्पन्न बुद्धि, अन्तःकरण, उसमें प्रतिफलित चितः प्रकाशः—चेतन का प्रकाश, स्फूर्ति अयम् जीवः इति ईर्यते—यह 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ

अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परतंत्र, कर्ता भोक्ता, दीन दुःखी जीव कहलाता है। जैसे स्वच्छ दर्पण पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है जिससे प्रकाशित हो कर वह अपने आप भी अन्धकारमय छिद्रों को प्रकाशित करने में समर्थ होता है, उसी तरह अन्तःकरण भी, जो कि सूक्ष्म पंचभूतों के सत्त्वांशों से वनता है अतएव स्वच्छ होता है, चेतन की समीपता के कारण उसके प्रकाश से, सूर्य विम्व से दर्पण की भाँति, प्रकाशित, चेतनीभूत हो जाता है। चिदाभासयुक्त अन्तःकरण चेतन के सामर्थ्य से कुछ स्फूर्तियुक्त होता है, और अपने में आत्मा का अहंकार करता है। इसी को जीव कहते हैं। मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, सुखी, दुःखी हूँ, इस प्रकार अपने धर्मों को आत्मा के धर्म समझता है। परन्तु **आत्मा साक्षितया**—आत्मा अन्तःकरण का प्रकाशक और असंग साक्षी है, 'असंगो न हि सज्यते' इति श्रुतिः। असंग साक्षी आत्मा साक्ष्य के धर्मों से लिपायमान नहीं होता **धियः**—अन्तःकरण, बुद्धि से **पृथक् स्थितः**—अलग, असंग, भिन्न रहता है, विकारशून्य होने से।

बुद्ध्या-अपरिच्छिन्नपरः—बुद्धि वृत्ति, उस के भाव तथा अभाव के परिच्छेद से रहित अतःएव उस से पर, अतीत निर्लेप रहता हुआ जो है **सः एव हि**—वही परमात्मा है। निश्चय ही परमात्मा बुद्ध्यादि के धर्मों से रहित स्वमहिमा में अप्रतिम, अद्वितीय ही रहता है ॥४०॥

चिद्‌बिम्बसाक्षात्मधियां प्रसंगत-
स्त्वेकत्र वासादनलाक्तलोहवत्।
अन्योन्यमध्यासवशात्प्रतीयते
जडाजडत्वं च चिदात्मचेतसोः ॥४१॥

अर्थ—चेतन साक्षी आत्मा तथा बुद्धि के अतिनिकट सहवास से, अग्नि में तपाये हुए लोह पिंड की भाँति चेतन आत्मा और अचेतन बुद्धि के क्रमशः अजड़त्व और जड़त्व धर्मों का भ्रान्तिवश एक दूसरे पर आरोपण होता है, वास्तव में नहीं।

व्याख्या—आत्मा और बुद्धि में अध्यास के कारण अन्योऽन्य धर्मों के आरोपण विषय को दृढ़ता के लिये कहते हैं।

चिद्बिम्बसाक्षी-आत्मधियाम्—चेतन साक्षी आत्मा जो कि मूल प्रकाशविम्व है और स्वयं ज्योति है और शरीर संबंधी अन्तःकरण जो कि आत्मा के प्रकाश को प्रतिविम्वित होता है, इन दोनों का **प्रसंगतः**—अतिनिकट सान्निध्य से **एकत्रवासात्**—एक स्थान में वास से **अनलाक्त लोहवत्**—अग्नि में तप्त लोह पिण्ड की भाँति। गोल चोरस त्रिकोण लोहे के टुकड़ों को अग्नि में डालने से वे अग्नि के समान लाल हो जाते हैं और देखने वाले कहते हैं कि अग्नि गोल है, चौकोर है, त्रिकोणाकार है। अग्नि का कोई आकार नहीं होता, लोह पिण्डों ने अपने आकारों को अग्नि में आरोपण कर दिया और अग्नि ने अपने दाहकत्व धर्म को लोहे में आरोपण कर दिया, अध्यासवश, उसी प्रकार **चिदात्मचेतसोः**—चेतन आत्मा और अन्तःकरण इन दोनों का **अन्योन्यम्**—अपने अपने निजी धर्मों को दूसरे में **अध्यासवशात्**—भ्रान्तिवश, तादात्म्य हो कर, आरोपण करते हैं, क्या? **जड-अजडत्वम्**—अन्तःकरण अपनी जडता को, इच्छादि रागादि को चेतन आत्मा में आरोपण सा करता है और चेतन आत्मा अपनी स्वयंप्रकाशता को जड़ अन्तःकरण में आरोपित सा करता है। अतिसमीपता के कारण ऐकात्म्यता के भ्रम से पारस्परिक गुणों का मिथ्या आदान प्रदान सा होता है। **च**—चकार से वास्तव में नहीं होता ॥४१॥

गुरोः सकाशादपि वेदवाक्यतः
संजातविद्यानुभवो निरीक्ष्य तम्।
स्वात्मानमात्मस्थमुपाधिवर्जितं
त्यजेदशेषं जडमात्मगोचरम् ॥४२॥

अर्थ—गुरु द्वारा ब्रह्मविद्या के उपदेश से, महावाक्य के विचार से तथा निदिध्यासन से ब्रह्म का साक्षात् अनुभव होने पर उपाधिरहित

उस नित्य प्राप्त आत्मा को अन्तःकरण में निरीक्षण कर इन्द्रिय ग्राह्य जड दृश्य को सम्पूर्ण रूप से त्याग दे।

व्याख्या—**गुरोः सकाशात्**—सद्गुरु से ब्रह्मविद्या का श्रवण करके **वेदवाक्यतः अपि**—वेदमहावाक्य, 'तत्त्वमसि' आदि वेदवाक्य के मनन से, 'अपि' शब्द से निदिध्यासन, ब्रह्माभ्यास लेना चाहिये, **संजातविद्यानुभवः**—श्रवण मनन निदिध्यासन से उत्पन्न हुआ है ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान का अनुभव जिसको ऐसा वह **तम्**—उस प्रसिद्ध मनोवाचामगोचर **स्वात्मानम्**—अपने स्वरूप आत्मा का **उपाधिवर्जितम्**—स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर रूप त्रि-उपाधियों से रहित **आत्मस्थम्**—अन्तःकरण, हृदय में **निरीक्ष्य**—अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति से निर्विकल्प समाधि में साक्षात्कार करके **जडम् आत्मगोचरम्**—अन्तःकरण की वृत्तियों और ज्ञानकर्मेन्द्रियों से ग्राह्य जड़ दृश्य को **अशेषम्**—उनके कारण अज्ञान सहित **त्यजेत्**—असत् जान कर उपेक्षा करे, उनके संबंध से निर्व्यापार हो जाये, अलम् बुद्धि हो जाये ।।४२।।

प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयो-
ऽसकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः ।
विशुद्धविज्ञानघनो निरामयः
सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः ।।४३।।

अर्थ—मैं स्वयंप्रकाश रूप हूँ, मैं अजन्मा हूँ, मैं अद्वितीय हूँ, निरन्तर अतिरोहित प्रकाशवाला हूँ, मैं अत्यन्त शुद्ध, निर्मल ब्रह्म की मूर्ति, सर्वदोषरहित, अनन्त, आनन्दपूर्ण हूँ, मैं निष्क्रिय हूँ।

व्याख्या—अब निदिध्यासन, ब्रह्माभ्यास के लिये दो श्लोक देते हैं। **अहम् प्रकाशरूपः**—मैं स्वयंज्योति हूँ, मुझे अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं **अहम् अजः**—मैं अजन्मा अतः अनादि हूँ, **अहम् अद्वयः**—विजातीय-सजातीय-स्वगत भेद से शून्य अद्वैत तत्त्व हूँ। 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः छान्दोग्योपनिषद ६।२।१, ब्रह्म एक ही अद्वितीय

तत्त्व है। वृक्ष शिलादि का भेद विजातीय भेद कहलाता है, क्योंकि शिला और वृक्ष दो भिन्न जातियाँ हैं। वृक्ष जाति में भी जैसे आम्र और विल्व वृक्षों का भेद सजातीय भेद कहलाता है, और एक वृक्ष के भी स्कंध, पत्र, पुष्प, फलादि में भेद स्वगत भेद कहलाता है। आत्मा इन तीन प्रकार के भेदों से रहित है। **असकृत् विभातः**—मैं निरन्तर प्रकाशमान हूँ, सर्वकाल में स्वयं ज्योति हूँ; सूर्यादि की तरह मेरे प्रकाश का तिरोभाव नहीं होता, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' इति कठश्रुतिः २।२।१५ उसको प्रकाशित करने के लिये न सूर्य चमकता है और न चन्द्रमा तारकादि। **अहम् अतीव निर्मलः**—मैं अत्यन्त निर्मल हूँ, मायाकृत आवरण विक्षेप रहित हूँ, अतःएव **विशुद्ध विज्ञानघनः**—अमिश्रित अनुभव सहित ज्ञानमूर्ति हूँ; घन का अर्थ मूर्ति भी होता है चिन्मात्र हूँ, एकरस बोधरूप हूँ, **निरामयः**—संकल्पवासनादि के कोलाहल से रहित; कर्ताभोक्तापन के अभिमान से रहित, निर्दोष **सम्पूर्णः**—अखण्ड, अनन्त **आनन्दमयः**—आनन्दरूप **अहम् अक्रियः**—मैं क्रियारहित, परिणामरहित अविकारी हूँ। कर्म, अज्ञान से, राग द्वेष से बनता है, पर मैं तो विशुद्ध विज्ञानघन हूँ, अतः मुझ में कर्म किसी प्रकार संभव नहीं। निदिध्यासन के लिये यह श्लोक दिया है ।।४३।।

सदैव मुक्तोऽहमचिन्त्यशक्तिमा-
नतीन्द्रियज्ञानमविक्रियात्मकः ।
अनन्तपारोऽहमहर्निशं बुधै-
र्विभावितोऽहं हृदि वेदवादिभिः ।।४४।।

अर्थ—मैं सदा ही मुक्त हूँ, मैं अचिन्त्य शक्तियुक्त हूँ, मेरे स्वरूप को इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं, विकार रहित हूँ, मैं अनन्त अपार हूँ, वेदवेत्ता बोधवानों से मेरा ध्यान हृदय में किया जाता है।

व्याख्या—निदिध्यासन का यह दूसरा श्लोक है। **अहम् सदा एव मुक्तः**—मैं आदि मध्य अन्त, भूत वर्तमान भविष्यत्, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति, सब देश, काल, अवस्था में नित्यमुक्त हूँ। न मैं कभी

बंधन में आया था, आया हूँ तथा न कभी बंधन में आऊँगा, न कभी मेरा बंधन में आना हो सकता है, न संभव है।

अहम् अचिन्त्यशक्तिमान्—मेरी कितनी शक्ति है इसका कोई चिन्तन भी नहीं कर सकता, 'अघटितघटनापटीयसी' माया मेरी ही दिव्य शक्ति है। 'पराऽस्य शक्ति विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च।।' इति श्रुतिः श्वेताश्वतर ६।८। ब्रह्म की परा शक्ति नाना प्रकार से सुनी जाती है, ज्ञान वल क्रिया इसमें स्वभाव से ही हैं।

अतीन्द्रयज्ञानम्—जिस के स्वरूप का ज्ञान पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों तथा चार भीतर की इन्द्रियों से—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से विदित न हो सके, ऐसा ज्ञान हूँ। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', इति तैत्तिरीयोपनिषद, ब्रह्मवल्ली २।४, मन और वाणी ब्रह्म को न प्राप्त करके वापिस लौटती हैं। **अविक्रियात्मकः**—अपरिणामी, अव्यय, षड्विकार रहित। पैदा होना, होना, वढ़ना, वदलना, घटना, नाश होना—ये छः भावविकार कहलाते हैं। इनके प्रभाव से कोई भी मायिक पदार्थ नहीं वचता। परन्तु ब्रह्म, अमायिक होने से इन विकारों से शून्य होता है। **अहम् अनन्तपारः**—मैं देश काल वस्तु परिच्छेद रहित, अनन्त हूँ, मैं सर्वदेश काल वस्तु में व्याप्त हूँ। मैं अनन्त होने से सीमा शून्य हूँ, मेरा पार नहीं है। ऐसा मैं परमात्मा **वेदवादिभिः बुधैः**—वेदों के ज्ञाता बोधवानों से **अहम् हृदि अहर्निशम् विभावितः**—मैं सत्त्वगुणप्रधान अन्तःकरण में अहर्निश ध्यान किया जाता हूँ। साधकों को इन श्लोकों का आदर पूर्वक और भावनासहित अभ्यास करना चाहिये ।।४४।।

एवं सदात्मानमखण्डितात्मना
विचार्यमाणस्य विशुद्धभावना।
हन्यादविद्यामचिरेण कारकै
रसायनं यद्वदुपासितं रुजः ।।४५।।

अर्थ—इस प्रकार अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति से आत्मा का अनुभव करने वाले का ज्ञान, कार्यसहित अज्ञान को शीघ्र ही नाश करता है जैसे कि सेवन की हुई महौषधि रोग का अचिर नाश करती है।

व्याख्या—अब पूर्वोक्त श्लोकों के अभ्यास का फल बताते हैं। **एवम्**—इस प्रकार, पूर्व के दो श्लोकों में बताये हुए अभ्यास प्रकार से **सदा अखण्डितात्मना**—सदा अन्य विषय से अनाकृष्ट चित्तवृत्ति से एकाग्रतापूर्वक **आत्मानम् विचार्यमाणस्य**—आत्मा के स्वरूप का ध्यान लगाने वाले की **विशुद्धभावना** अन्त:करण में उदित ब्रह्माकार वृत्ति **अविद्याम् कारकैः**—अज्ञान को उसके कार्य संसार सहित **अचिरेण हन्यात्**—शीघ्र ही नष्ट कर देती है। **यद्वत् समुपासितम् रसायनम्**—जैसे कि भले प्रकार सेवन की हुई महौषधि **रुजः**—व्याधि का शीघ्र ही नाश करती है ॥४५॥

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो
विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः।
विभावयेदेकमनन्यसाधनो
विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थितः ॥४६॥

अर्थ—एकान्त स्थान में बैठ कर, इन्द्रियों को विषयों से हटा कर, शरीर को निश्चेष्ट करके, विशुद्ध अन्त:करण वाला हो कर, ज्ञान-साधनों को छोड़ कर अन्य साधनों पर अनाश्रित, ब्रह्म में लक्ष्य स्थिर कर, ब्रह्म जिज्ञासा में दृढ़, अनन्यचेता हो कर एकतत्त्व ब्रह्म का ध्यान करे।

व्याख्या—अब ध्यान विधि बताते हैं। ध्यान कैसे स्थान में लगाये **विविक्तः**—एकान्त स्थान में, शब्द प्रकाश पत्थर कंकरादि से विवर्जित रुचिकर गिरि गुहादि में, ध्यानावस्था में विक्षेप होने से प्राणों के संकट में पड़ने की संभावना होती है, अतः समाधि के लिये निर्जन, सुरक्षित स्थान चाहिये, अथवा रक्षा के लिये उत्तर साधक

चाहिए। देश वता कर अव आसन वताते हैं, **आसीनः**—आसन पर बैठ कर, खड़े हो कर अथवा चलते फिरते ध्यान नहीं लगाया जाता, कैसे आसन पर ? सव से नीचे कुशा का, फिर कृष्णमृग चर्म और उस पर वस्त्र विछा कर आसन वनाये। ज्ञानमार्गियों के लिये यह श्रेष्ठ आसन है। उस पर पद्म अथवा स्वस्तिक अथवा सुखासन से बैठे। यह आसन न वहुत ऊँचा हो और न नीचा हो। ऐसा कड़ा आसन भी न लगाये जिससे पैर पिड़ायें, अन्यथा ध्यान में वाधा हो। गृहस्थों के लिये सुखासन श्रेष्ठ है।

उपारतेन्द्रियः—संयम से वश में हो गई हैं इन्द्रियां जिस की, इन्द्रियों के विषयों के प्रति धावन को निषिध्य कर के, जिसकी इन्द्रियां अपने विषयों से उपरत, निर्व्यापार हो गई है, ऐसा वह **विनिर्जितात्मा**—जीत लिया आत्मा, शरीर को जिसने, यहाँ आत्मा का अर्थ शरीर लेना होगा, शरीर को आसन पर निश्चेष्ट करके, 'समं कायंशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।' काया, शिर और गर्दन को सम और अचल भाव से धारण करके स्थिर होकर बैठे। श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में भगवान कृष्ण ने ध्यान के संवन्ध में वताया है।

विमलान्तराशयः—विशुद्धमानस, रागद्वेषादि के मल से रहित अन्तःकरणवाला, होकर सत्त्वगुणप्रधान मन वाला **अनन्यसाधनः**—अपनी साधना में अनन्यरूप से संलग्न, विवेक वैराग्यादि वहिरंग साधन चतुष्टय तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि ज्ञान के अन्तरंग ज्ञान साधनों को छोड़ कर अन्य कर्मोपासना साधनों का आश्रय न लेते हुए; मदिरा, सुलफा, अफीम भांग आदि मादक साधनों का हठ से एकाग्रता के लिये आश्रय न ले कर **विज्ञानदृक्**—आत्मस्वरूप ही है दृष्टि, लक्ष्य जिस का वह, स्वलक्ष्य में समाहित **आत्मसंस्थितः**—स्वस्वरूप आत्मा में ही है निष्ठा, जिज्ञासा जिसकी, ऐसा वह अपने स्वरूप का ही मुतलाशी हो कर, **केवलः**—अनन्यचेता होकर **एकम्**—एक अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व का **विभावयेत्**—ध्यान करे, अन्य किसी का भी चिन्तन न करे। श्वेताश्वतरोपनिषद के द्वितीय अध्याय में भी ध्यान संबंध में वताया है।।४६।।

विश्वं यदेतत्परमात्मदर्शनं
विलापयेदात्मनि सर्वकारणे ।
पूर्णश्चिदानन्दमयोऽवतिष्ठते
न वेद बाह्यं न च किंचिदान्तरम् ।।४७।।

अर्थ—यह जो विश्व है यह परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है। इस को सर्वाधिष्ठान आत्मा में लय करे। इस प्रकार जो अनन्त आनन्दरूप ब्रह्मरूप से अवस्थान करता है, वह वाह्य और अभ्यन्तर कुछ नहीं जानता।

व्याख्या—**यत् एतत् विश्वम्**—और जो यह विश्व है, अहंकार से लेकर स्थूलदेहपर्यन्त, इस का हठात् मन में चिन्तन उठे तो क्या करे ? **परमात्मदर्शनम्**—विश्व को स्वस्वरूप का विरोधी न जाने वल्कि इस में इस के अधिष्ठान चेतन परमात्मा का दर्शन करे, नामरूप का दर्शन न करे, अथवा यह विश्व परमात्मा के प्रकाश से ही दर्शनयोग्य है, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति कठ श्रुति २।२।१५ उस परमात्मा के प्रकाश से सव जगत् प्रकाशित होता है। अतः इस के, नामरूपात्मक भाग को **आत्मनि**—इस के अधिष्ठान चैतन्य आत्मा में, ऐसा क्यों ? **सर्वकारणे**—समस्त जगत् ब्रह्म में अध्यस्त होने से ब्रह्म सर्व का अधिष्ठान कारण है। 'उपादानं प्रपंचस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते। तस्मात् सर्वप्रपंचोऽयं ब्रह्मैवाऽस्ति न चेतरत् ।।' अपरोक्षानुभूतिः ।।४५।। प्रपंच का मुख्यकारण ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है। अतः यह सव प्रपंच ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं। कारण दो प्रकार के होते हैं निमित्त और उपादान। निमित्त कारण—जैसे घट की रचना में कुम्भकार, कुम्भकार के नाश होने से घट का कुछ नहीं विगड़ता, निमित्त कारण कार्य के स्वरूप में प्रवेश नहीं करता। उपादान कारण—जैसे घट की रचना में मिट्टी, सृष्टि-स्थिति-लय कारण, मुख्यकारण।

परमात्मा की सानिध्यता ही भवसृष्टि में उस की निमित्त

कारणता है। 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' गीता ९।१० मेरी अध्यक्षता, समीपता से माया मेरे प्रकाश से चेतनी सी होकर समस्त विश्व को रचती है। परमात्मा की अधिष्ठानरूपता ही उस की निमित्तकारणता है। न परमात्मा कुम्भकार की तरह सृष्टि को रचता है और न मिट्टी की तरह घटकलेवर में सृष्टिरूप में परिणत होता है। यदि सृष्टि का कोई कारण है तो वह परमात्मा ही है। **विलापयेत्**—जगत को अपने अधिष्ठान परमात्मा में लय करे, लय की भावना करे। अधिष्ठान से भिन्न न देखे। जल में चीनी की तरह परमात्मा में सृष्टि का लय नहीं होता। लय की भावना की जाती है, क्योंकि परमात्मा पूर्ण है, अनन्त है। इस लय का फल वताते हैं। **पूर्णः**—परमात्मा के साथ एकात्म्य होने से पूर्ण आप्तकाम, सव कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। आत्मलाभ होने पर अन्यलाभ अत्यन्त क्षीण भासते हैं। अतः सर्वकामावाप्ति होने से **चिदानन्दमयः**—आत्मानन्द में विभोर, विषयानन्द से असंवंधित **अवतिष्ठते**—रहता है, स्वस्वरूप में सुखपूर्वक अवस्थान करता है। उस अवस्था में **न किंचित् बाह्यम् वेद**—न तो कुछ वाह्य विषयों को जानता है **न च आन्तरम्**—और न ही भीतर वासना अहंकारादि को जानता है, परमात्मभावना में इन सव का लय हो चुकता है परमात्मा में बाहर भीतर का भेद नहीं है ॥४७॥

पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तये-
द्दोंकारमात्रं सचराचरं जगत्।
तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको
विभाव्यते ऽज्ञानवशान्न बोधतः ॥४८॥

अर्थ—समाधि से पहले समस्त चराचर जगत को ओंकारमात्र चिन्तन करे, क्योंकि जगत् वाच्यार्थ है, और ओंकार उस की संज्ञा है। समाधि के निमित्त ऐसी भावना की जाती है, बोध के उपरान्त नहीं।

व्याख्या—अब समाधि की प्रक्रिया बताते हैं। **समाधेः पूर्वम्**—समाधि से पहले, समाधिवृत्ति दो प्रकार की होती है सविकल्प और निर्विकल्प। निदिध्यासन को ही सविकल्प समाधि कहते हैं। इसमें ध्यान-ध्याता-ध्येय यह त्रिपुटी बनी रहती है, पर साधक इस को ब्रह्म रूप ही जानता है, मिट्टी के हाथी को देख कर उस को मिट्टी ही जानने की भांति। निर्विकल्प समाधि में ध्यान-ध्याता-ध्येय इस त्रिपुटी का विराम हो जाता है, तीनों मिल कर एक हो जाते हैं, और फिर वृत्ति का भी विस्मरण हो जाता है। समाधि, ब्रह्माकारवृत्ति की आरम्भक क्रिया बताते हैं **अखिलम् सचराचरम् जगत् ओंकारमात्रम् विचिन्तयेत्**—समस्त, भूत भविष्यत वर्तमान सचराचर, जंगम और स्थावर जगत को ओंकारमात्र चिन्तन करे। 'ओमिति ब्रह्म ।। ओमितीदं सर्वम् ।।' इति तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षाध्याय में आठवाँ अनुवाक्, ॐकार ब्रह्म है, ओंकार ही सब जगत है। अ+उ+म् इन तीन अक्षरों से ओंकार बनता है। यह ॐ कार एकाक्षर ब्रह्म है। यह ओंकार जगत् का मूल कारण है, कारण और कार्य अभेद होने से यह जगतकार्य अपने आप ओंकारकारण ही है।

तदेव वाच्यम्—यह जगत् ओंकार का वाच्य, आकार है, अर्थ है, यदि कोई पूछे कि ॐ कार का अर्थ क्या है तो उत्तर दो :—सचराचर समस्त जगत् ओंकार का अर्थ है। **प्रणवः वाचकः**—और ओंकार इस जगत् का नाम है, ओंकार संज्ञा से जगत् कहा जाता है। इस प्रकार **विभाव्यते**—भावना की जाती है, समाधि से पूर्व **ज्ञानवशात्**—समाधिसिद्धि प्राप्त करने के प्रयोजन से ऐसी भावना आत्मसाक्षात्कार होने से प्रथम की जाती है **बोधतः न**—बोध होने के उपरान्त नहीं, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार होने के उपरान्त अज्ञान अपने कार्य, जगत सहित, नष्ट हो जाता है, और भेद का अभाव हो जाता है, 'ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः' अधिष्ठान तत्त्व ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर उस में अध्यस्त जगत् नहीं रहता ।।४८।।

अकारसंज्ञः पुरुषो हि विश्वको
ह्युकारकस्तैजस ईर्यते क्रमात् ।

प्राज्ञो मकारः परिपठ्यतेऽखिलैः
समाधिपूर्वं न तु तत्त्वतो भवेत् ॥४६॥

अर्थ—अकार नामवाला पुरुष विश्वक, उकार नामवाला तैजस कहा जाता है, मकार नामवाला पुरुष प्राज्ञ कहा जाता है क्रम करके वेदविदों से। यह भावना समाधि से पूर्व की जाती है, वास्तव में ऐसा नहीं है।

व्याख्या—अब प्रणव के तीन अक्षरों के जुदा-जुदा विभाग करके अर्थ कहते हैं। **अकारसंज्ञः पुरुषः हि विश्वकः**—'अ' संज्ञा से, अकार से कहा जाने वाला पुरुष ही विश्वक अथवा विश्व कहा जाता है। अविद्या, उस में चैतन्य का प्रतिविम्ब और चैतन्य (कूटस्थ) ये तीनों मिल कर जीव का स्वरूप वनाते हैं, जो सर्वत्र जीवरूप से व्यवहार किया जाता है। इस जीव के देह में तीन स्थान हैं जिन में बैठ कर यह भिन्न-भिन्न तीन अवस्थाओं का अनुभव करता है। जाग्रदवस्था में दक्षिण नेत्र इस का स्थान है। स्वप्नावस्था में कंठगत हितानाम की नाड़ी इस का स्थान है और सुषुप्ति में हृदय स्थान है। जाग्रदवस्था में स्थूल शरीर पर अभिमान करता हुआ यही जीव 'विश्व' कहलाता है। जैसे जीव है, वैसे ही उसका ईश्वर भी है। जीव–ईश्वर दोनों सापेक्षिक शब्द हैं। उसी प्रकार माया और चैतन्याभास तथा चैतन्य (ब्रह्म) ये तीनों मिल कर ईश्वर कहलाता है। इस ईश्वर के भी अवस्थाभेद से तीन शरीर हैं। समष्टिरूप से परमेश्वर का स्थूल शरीर 'वैश्वानर' कहलाता है। समष्टि स्थूल-शरीर पर अभिमान करने से यह परमेश्वर 'विराट्' कहलाता है। सारे विश्वनामा जीव विराट् पुरुष का अंश होने से विराट्रूप ही हैं। इस प्रकार पंचीकृत महाभूत और उनका कार्य सव विराट् कहलाता है। आत्मा का यह स्थूल शरीर है। विश्व नामा जीव, विराट् नामा ईश्वर तथा पंचीकृत महाभूत ये तीनों ही 'अकार' हैं।

हि उकारः च तैजसः ईर्यते—और ओंकार का दूसरा अक्षर

उकार तैजस कहलाता है। स्वप्नावस्था में सूक्ष्मशरीर पर अभिमान करता हुआ यह जीव तैजस नाम वाला हो जाता है। जैसे जीव है वैसे ही उस का ईश्वर भी है। जीव और ईश्वर सापेक्षिक हैं। समष्टि सूक्ष्म सूत्रात्मा नाम से इस परमेश्वर का सूक्ष्मशरीर है। समष्टि सूक्ष्मशरीर पर अभिमान करके यह परमेश्वर हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध होता है। सारे तैजस नामवाले जीव हिरण्यगर्भ का अंश होने से हिरण्यगर्भरूप ही हैं। अपंचीकृत पंच महाभूत पंच तन्मात्रा और उन का कार्य पंच प्राण, दश इन्द्रियां और मन बुद्धि ये सत्रह मिलकर लिंग शरीर कहलाते हैं। समष्टि रूप से यह आत्मा का सूक्ष्मशरीर है। तैजस नामा जीव और हिरण्यगर्भ नामा ईश्वर तथा अपंचीकृत सूक्ष्मभूत ये तीनों ही उकार हैं।

मकारः प्राज्ञः परिपठ्यते—प्रणव के तीसरे अक्षर मकार का वाच्यार्थ प्राज्ञ है। सुषुप्ति अवस्था में कारणशरीर पर अभिमान करता हुआ यह जीव, 'प्राज्ञ' कहलाता है। जैसे जीव है वैसे ही उस का परमेश्वर भी है। जीव की अपेक्षा से ईश्वर है। सब चराचर जगत् का कारण माया और जो अव्यक्त, अव्याकृत, प्रधान, शक्ति, प्रकृति इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है, इस परमेश्वर का कारण-शरीर है। समष्टि कारणशरीर पर अभिमान करने से यह ईश्वर कहलाता है। सारे प्राज्ञ नामवाले जीव ईश्वर का अंश होने से ईश्वररूप ही हैं। स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का कारण आत्मा का अज्ञान साभास अव्याकृत कहा जाता है। आत्मा का यह कारण-शरीर है। न यह सत् है, न असत् और न सदसत् उभयरूप है; न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभयरूप है। केवल ब्रह्म के एकत्व ज्ञान से नाश होने योग्य है। सर्व प्रकार के ज्ञान के उपसंहार हो जाने पर बुद्धि की कारणरूप से स्थिति सुषुप्ति कहलाती है। प्राज्ञ, ईश्वर, तथा कारणमाया ये तीनों मकार हैं।

क्रमात् अखिलैः—अवस्था भेद से क्रम करके विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ नामी जीव, अपनी अवस्था, ईश्वर तथा कारणों के सहित समस्त

वेदवादियों से कहे जाते हैं। **समाधिपूर्वम् न तु तत्त्वतः भवेत्**—ऐसी भेदभावना अज्ञानावस्था में समाधि से पूर्व, ज्ञानोदय से पूर्व की जाती है। निर्विशेष ब्रह्मज्ञान के उदय होने पर परमार्थ में भेद नहीं है। 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इति कठश्रुतिः २।१।११ ब्रह्म में नानापन नहीं है।

इस संबंध में योगचूडामण्युपनिषद के मंत्र उद्धृत किये जाते हैं।

'अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणास्त्रीण्यक्षराणि त्रयः स्वरा एवं प्रणवः प्रकाशते। अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु। उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः ॥७४॥ विराड्विश्वः स्थूलश्चाकारः। हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः। कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः। अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते। उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते ॥७५॥ मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेति तथोच्यते। प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ॥७६॥ प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्। अकारे लीयते ब्रह्मा ह्यकारे लीयते हरिः ॥७७॥ मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते ॥

'अ' 'उ' 'म्'—ये तीन अक्षर ही तीनों वेद—ऋक्, साम, यजु, तीनों लोक—भूः (मृत्युलोक) भुवः (अन्तरिक्ष) तथा स्वः (स्वर्ग) लोक हैं; तीनगुण—सत्त्व, रज, तम; तीन अक्षर—माया, कूटस्थ, ब्रह्म; तीन स्वर—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अथवा इडा, पिंगला, सुषुम्णा; इस प्रकार प्रणव प्रकाशित होता है। अकार (विश्वनामक जीव) जाग्रदवस्था में सब प्राणियों के नेत्र में निवास करता है, उकार (तैजस नामक जीव) स्वप्नावस्था में कंठ में निवास करता है, मकार (प्राज्ञ नामक जीव) सुषुप्ति में हृदय में निवास करता है ॥१४॥ विराट ईश्वर, विश्व जीव, तथा स्थूलपंचभूत अकार हैं। हिरण्यगर्भ ईश्वर, तैजस जीव तथा अपंचीकृतभूत उकार हैं। ईश्वर, प्राज्ञजीव तथा अव्याकृत माया मकार हैं। अकार रजोगुणी रक्तवर्णी ब्रह्मा कहा जाता है। उकार सतोगुणी

श्वेतवर्ण विष्णु कहा जाता है ॥७५॥ मकार तमोगुणी कृष्णवर्ण रुद्र कहा जाता है। ओंकार से ही ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र की उत्पत्ति है ॥७६॥ अतः प्रणव ही सब से श्रेष्ठ हैं। अकार में ब्रह्मा लय होता है, उकार में विष्णु लय होता है ॥७६॥ मकार में रुद्र लय होता है, इस प्रकार सर्वाधिष्ठान प्रणव ही प्रकाशता है ॥४६॥

विश्वं त्वकारं पुरुषं विलापये-
दुकारमध्ये बहुधा व्यवस्थितम् ।
ततो मकारे प्रविलाप्य तैजसं
द्वितीयवर्णं प्रणवस्य चान्तिमे ॥५०॥

अर्थ—बहुत प्रकार से अवस्थित प्रणव के प्रथम अक्षर विश्व नामक पुरुष को उकार में लय करे, फिर ओंकार के दूसरे अक्षर उकार संज्ञावाले तैजस पुरुष को प्रणव के अन्तिम अक्षर मकार में लय करके।

व्याख्या—बहुधा व्यवस्थितम् अकारम् पुरुषम् तु—जो देहेन्द्रिय प्राणादि में नाना प्रकार से व्यवस्थित है, उनमें अहंकार करता है, उस प्रणव के प्रथम अक्षर अकार संज्ञावाले विश्व नामक जीव को 'तु' का अर्थ है, साथ ही उस जीव के ईश्वर और पंचीकृतभूतों को भी **उकार मध्ये विलापयेत्**—प्रणव के दूसरे अक्षर उकार के बीच में विलय करे, विलय की भावना करे। स्थूल को सूक्ष्म में लय करे। विश्व को तैजस में, विराट ईश्वर को हिरण्यगर्भ ईश्वर में, स्थूलभूतों को सूक्ष्म भूतों में लय करे **ततः**—उस के उपरान्त **द्वितीय वर्णम् तैजसम्**—प्रणव के दूसरे अक्षर तैजस नामक जीव को उसके अपने ईश्वर और सूक्ष्मभूतों सहित **प्रणवस्य अन्तिमे मकारे प्रविलाप्य**—ओंकार के अन्तिम अक्षर मकार में, तैजस को प्राज्ञ में, हिरण्यगर्भ को ईश्वर में, और सूक्ष्म महाभूतों को अव्याकृत माया में विलय करके, विलय की भावना करके **च—चकार** अगले श्लोक से संबंध बताता है।

मकारमप्यात्मनि चिद्घने परे
विलापयेत्प्राज्ञमपीह कारणम् ।
सोऽहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तिम-
द्विज्ञानदृङ्मुक्त उपाधितोऽमलः ॥५१॥

अर्थ—मकार संज्ञावाले प्राज्ञ को, जो कि तैजस और विश्व का कारण भी है, नित्यप्राप्त चेतनघन परमात्मा में लीन करे। वही सर्वाधिष्ठान परम ब्रह्म, नित्यमुक्त, उपाधिरहित मायामलरहित, ज्ञानचक्षु मैं हूँ।

व्याख्या—मकारम् प्राज्ञम् कारणम् अपि—प्रणव के तीसरे अक्षर प्राज्ञ नामक जीव और उसके सापेक्षिक ईश्वर को जो कि क्रम से प्रथम स्थूल और दूसरे सूक्ष्मशरीर के अभिमानी विश्व और तैजस का कारण है; और ईश्वर जो कि विराट औरहिरण्यगर्भ का कारण है उस को भी प्रकाशरूप बोध रूप परमात्मा में विलीन करें।

इह चिद्घने परे विलापयेत्—व्यष्टि (individual) विश्व, तैजस और प्राज्ञ इन तीनों शरीरों के अभिमान से रहित यह परमात्मा साक्षी अथवा कूटस्थ, वा प्रत्यगात्मा कहा जाता है। इसी प्रकार इन तीन जीवों के तीन ईश्वरों के समष्टि (Collective) शरीरों के अभिमान से रहित हुआ यही परमेश्वर शुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म, ईश्वर-साक्षी है। यही परमेश्वर का वास्तविक स्वरूप है। इसके साथ कूटस्थ की सदा ही एकता है। अतः विश्व तैजसरूप है, तैजस प्राज्ञरूप है और प्राज्ञ कूटस्थ साक्षीरूप है। इसी प्रकार विराट हिरण्यगर्भरूप है, हिरण्यगर्भ ईश्वररूप है। ईश्वर परमात्मा में अध्यस्त होने से परमात्मा-रूप है। अध्यस्त वस्तु अधिष्ठानरूप ही होती है। अध्यस्त की निवृत्ति ही अधिष्ठान है।

इसी न्याय से समष्टि व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म प्रपंच अपनी कारण उपाधि माया और अविद्या सहित सच्चिदानन्द परमात्मा में अध्यस्त

रूप होने से सच्चिदानन्दघन पराभात्मा से भिन्न सत्तावाले नहीं हैं। कार्यसहित अज्ञान सच्चिदानन्द परमात्मा में रज्जु में सर्प की न्याईं अविद्या से कल्पित है। इस कल्पना का अधिष्ठान स्वयं सच्चिदानन्द परमात्मा इस का साक्षी है। जहाँ अधिष्ठान जड होता है, वहाँ दृष्टा दूसरा होता है, और जहाँ अधिष्ठान चैतन्य होता है वहां वह अधिष्ठान स्वयंसाक्षी होता है।

सः अहम् परम् ब्रह्म—सर्वविलय का जो अधिष्ठान है वही परम ब्रह्म मैं हूँ। समस्त विश्व का साक्षी यह परमात्मा आत्मारूप मेरा स्वरूप है। और मैं प्रत्यगात्मा साक्षी कूटस्थ, परमात्मा से अभिन्न रूप होने से, परमात्मा ही हूँ।

सदा विमुक्तिमत्—सर्वकाल में मुक्त, नित्यमुक्त **उपाधितः मुक्तः**—'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के शोधन से त्रिविध उपाधियों के बंधन से रहित हूँ। और मैं कैसा हूँ? **अमलः**—मायामल से शून्य तथा **विज्ञानदृक्**—ब्रह्माकारवृत्ति से स्वस्वरूप में स्थित हूँ।

तात्पर्य यह है कि अकार को उकार में और उकार को मकार में और मकार को ॐ कार रूप 'अहम्' में ही लय कर देना चाहिए। मैं आत्मा साक्षी केवल चैतन्यमात्र स्वरूप हूँ। मैं अज्ञान नहीं हूँ। न अज्ञान का कार्य हूँ, किन्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सत्यस्वभाव परमानन्द अद्वय प्रत्यग्भूत (अन्तर्यामी स्वरूप) चैतन्य स्वरूप ब्रह्म ही हूँ। इस प्रकार अभेद द्वारा स्थित होना ही समाधि कहलाता है ॥५१॥

एवं परिज्ञातपरात्मभावनः
स्वानन्दतुष्टः परिविस्मृताखिलः।
आस्ते स नित्यात्मसुखप्रकाशकः
साक्षाद्विमुक्तोऽचलवारिसिन्धुवत् ॥५२॥

अर्थ—इस प्रकार परमात्मा का साक्षात्कार करनेवाला, आत्मा-

नन्द से तृप्त, संसार से सुषुप्त वह महात्मा नित्य आत्मानन्द से प्रकाशित, निस्संदेह जीवन्मुक्त निश्चल सागरवत् स्वस्वरूप में अवस्थान करता है।

व्याख्या—अब ब्रह्मसाक्षात्कार का फल बताते हैं। **एवम्**—इस प्रकार, समाधि की जैसी विधि बताई है उसके अनुसार प्रयास करने से **परिज्ञातपरात्मभावनः**—साक्षात्कार कर लिया है परमात्मा के स्वरूप का अहम् रूप से जिसने, ऐसा वह **स्वानन्दतुष्टः**—स्वरूपानन्द, ब्रह्मानन्द से तृप्त रहता हुआ, तुष्टि के लिये प्राकृत जनों की भांति विषयानन्द का आश्रय न लेता हुआ **परिविस्मृताखिलः**—द्वैत के प्रति सुषुप्त, अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति उदय होने से मर्दित हो गई है द्वैतपरक वृत्तियां जिसकी, बुद्धिवृत्ति के नष्ट होने से अखिल विश्व, अहंकार से लेकर स्थूल देह तक अच्छे प्रकार भूला गया है जिससे, तादृश वह, 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।' गीता २।६९। जिस द्वैत जगत में अज्ञानी प्राणी जागते हैं, उस में बोधवान सुषुप्त रहता है, अपने स्वरूप में जागता है, द्वैत से निद्रित है, **नित्य-आत्मासुखप्रकाशकः**—त्रिकाल-अबाधित जो आत्मा का सुख है, वही है प्रकाशित जिस को, आत्म-प्रकाश से भिन्न उस को अन्य कोई प्रकाश नहीं भासता, **साक्षात् विमुक्तः**—निश्चयरूप से ध्वस्त-मायाबंध, जीवन्मुक्त हुआ **सः**—वह **अचल-वारिसिन्धुवत् आस्ते**—निस्तरंग जलनिधि के सदृश, मायामारुतवेग से स्पंदनरहित स्वस्वरूप में दृढ़ता से आरूढ़ रहता है। जीवन्मुक्त महात्मा, कर्तव्यरहित हुआ अपने आत्मा में ही रमण करता है और आनन्दित रहता है, 'स्वस्मिन् सदा क्रीडति नन्दति स्वयं, निरन्तरानन्दरसेन तृप्तः।' विवेक-चूडामणिः ।।५३७।। जीवन्मुक्त महात्मा ब्रह्मानन्द सुख से तृप्त सदा आत्मा में ही रमण करता है, उसी में आनन्द लेता है ।।५२।।

एवं सदाऽभ्यस्तसमाधियोगिनो
निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य हि।

विनिर्जिताशेषरिपोरहं सदा
दृश्यो भवेयं जितषड्गुणात्मनः ॥५३॥

अर्थ—इस प्रकार सदा समाधियोग का अभ्यास करने वाले के लिये, सब इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त पुरुष के लिये, षट्-अरिवर्ग को जीतनेवाले के लिये, शरीरादि के छः धर्मों को जीतने वाले के लिये मैं सदा दर्शनीय हूँ।

व्याख्या—**एवम्**—इस प्रकार **सदाभ्यस्त-समाधि-योगिनः**—निरन्तर समाधियोग का अभ्यास करनेवाले के लिये **निवृत्त-सर्वेन्द्रिय-गोचरस्य**—समस्त इन्द्रियों के विषयों से, शब्दस्पर्शरूपरसगंध से, उन को असत्, नाशवान, दुःखद जान कर, निवृत्त, मुक्त होने वाले के लिये **विनिर्जित-अशेषरिपोः**—निःशेष रूप से काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मात्सर्य—इन छः अन्तरंग शत्रुओं को जीतनेवाले के लिये, ये छः शत्रु रजोगुण के घोर धर्म हैं। ब्रह्माकारवृत्ति अत्यन्त सत्त्वगुणी होने से रजोगुण को धर्षित कर देती है, और रजोगुण के दब जाने से प्रवृत्ति के हेतु कामक्रोधादि शत्रु भी स्वतः निर्जित हो जाते हैं।

जितषड्गुणात्मनः—जीत लिया है आत्मा के अर्थात् देह (स्थूल, सूक्ष्म) के छः गुणों को जिस ने, उसके लिये, प्राण, चित्त, तथा शरीर संबंधी छः ऊर्मियां 'अशना च पिपासा च, शोकमोहौ जरामृत्तिः' वराहोपनिषद ॥६॥ भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढ़ापा और मृत्यु ये छः ऊर्मियां हैं। इनको जीतनेवाले के लिये, चतुर्थी के अर्थ में छठी विभक्ति का प्रयोग है। 'अशनायापिपासे प्राणस्य, शोकमोहौ मनसो, जरामरणे शरीरस्य' इति श्रुतिः, भूख प्यास प्राण के, शोकमोह मन के तथा जरामरण स्थूलशरीर के धर्म हैं। **अहम्**—मैं राम, आत्मा **सदा दृश्यः भवेयम्**—निरन्तर दर्शनीय होता हूँ। पूर्वोक्त विशेषता वाले के लिये, जो कि आत्मरति, आत्मक्रीड, परिविस्मृतदृश्य होता है, मैं सदा दृश्य हूँ, अपनी सत्ता-स्फूर्ति-प्रियता गुणों से उस की निजी आत्मा हूँ। द्वैत में रमण करनेवालों के लिये मैं प्रकाश्य नहीं।

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।' गीता ७।२५ । मैं अपनी माया में लिपटा हुआ होने के कारण सब को, मूढ़ों को, प्रकाशित नहीं होता ।।५३।।

ध्यात्वैवमात्मानमहर्निशं मुनि-
स्तिष्ठेत्सदा मुक्तसमस्तबन्धनः ।
प्रारब्धमश्नन्नभिमानवर्जितो
मय्येव साक्षात्प्रविलीयते ततः ।।५४।।

अर्थ—इस प्रकार मुमुक्षु आत्मा का निरन्तर ध्यान करता हुआ आत्मा के साक्षात्कार से सब बंधनों से मुक्त हुआ अवस्थान करे, और जीवन्मुक्ति अवस्था में प्रारब्ध द्वारा प्रस्तुत भोग को देहाभिमान-रहित हुआ भोगे, देहपात होने पर जीवन्मुक्त महात्मा निस्संदेह मुझ ब्रह्म से युक्त हो जाता है ।

व्याख्या—अब जीवन्मुक्त महात्मा का आचरण बताते हैं **एवम्**—इस प्रकार **मुनिः**—मननशील **अहर्निशम् ध्यात्वा**—दिन रात, स्नान भोजनादि का भी तिरस्कार कर के समाधि के अभ्यास बल से आत्मसाक्षात्कार करके । यह स्मरण रहे कि आत्मसाक्षा-त्कार के लिये अन्तिम घोर प्रयास में स्नान भोजन निद्रादि, दिन रात, किसी का भी भान नहीं रहता है । सभी की उपेक्षा हो जाती है । **सदा**—सर्वकाल के लिये **मुक्तसमस्तबंधनः**—स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप सब उपाधियों के बंधन से, उन के साथ तादात्म्यरूपता से छुटकारा पाया हुआ **तिष्ठेत्**—वसुधा को पावन करता हुआ स्वा-नन्दतुष्ट रहता है । यदि बोध होने पर उपाधियों का नाश हो जाता है, तो बोध होते ही बोधवान का शरीर क्यों नहीं गिरता ? इस पर कहते हैं **प्रारब्धम् अश्नन्**—प्रारब्ध कर्म, जो कि प्रस्तुत शरीर का आरम्भक है, के क्षय हुए बिना शरीर पात नहीं होता । ज्ञानवान् का शरीर पात होने से पहले ज्ञानाग्नि से दग्ध हो ही चुकता है, अब उस शरीर की प्रारब्ध रक्षा करता है, बोधवान की उसमें अहंता और

ममता नहीं रहती। प्रारब्ध को भोगता हुआ; किस प्रकार? **अभिमानवर्जितः**—अहंकार और आसक्ति से रहित, जीवन्मुक्त महात्मा प्रारब्ध द्वारा प्रस्तुत भोगों को ग्रहण करने में प्रवृत्ति रखता है, इससे अधिक नहीं।

'स्रोतसा नीयते दारु यथा निम्नोन्नतस्थलम्।
दैवेन नीयते देहो यथाकालोपभुक्तिषु ।।' विवेकचूडामणिः।५५१।

जैसे जल प्रवाह से, वन में काट कर डाली हुई लकड़ी ऊंचे नीचे स्थानों में वहा ले जायी जाती है, उसी प्रकार प्रारब्ध के द्वारा ही जीवन्मुक्त का शरीर समयानुकूल भोगों को प्राप्त होता है। **ततः मयि एव**—पुनः शरीर पतन के उपरान्त, मुझ ब्रह्म में ही **साक्षात् प्रविलीयते**—निस्संदेह लय हो जाता है, विदेह मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्त अवस्था में भी वह मुक्त ही था और विदेहमुक्तावस्था में भी वह मुक्त ही रहता है। 'विमुक्तः सन् विमुच्यते' इति श्रुतिः ,जीवन्मुक्त हुआ भी वह विदेहमुक्त होता है। यदि आत्मासाक्षात्कार होते ही शरीरपात हो जाये तो ब्रह्मनिष्ठ आचार्यों के अभाव के कारण ब्रह्मविद्या की रक्षा, पोषण तथा प्रसार को हानि पहुँचेगी।।५४।।

आदौ च मध्ये च तथैव चान्ततो
भवं विदित्वा भयशोककारणम्।
हित्वा समस्तं विधिवादचोदितं
भजेत्स्वमात्मानमथाखिलात्मनाम् ।।५५।।

अर्थ—आदि, मध्य तथा अन्त में संसार को भय और शोक का कारण जान कर, (उससे निवृत्ति के लिये) शास्त्रों द्वारा कर्तव्यतारूप से कहे हुए सव कर्मों को स्वरूप से त्याग कर सव भूतों के अधिष्ठान अपने आत्मा का ध्यान करे।

व्याख्या—अव तीनों श्लोकों के विषय का उपसंहार करते हैं।

लक्ष्मणजी ने पूछा था, 'यथाऽञ्जसाऽज्ञानमपारवारिधिं सुखं तरिष्यामि तथाऽनुशाधि माम्।' रामजी ने उसका उपाय ब्रह्मविद्या बताया। 'विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्।' लक्ष्मणजी को यह भ्रान्ति हो गई थी कि निर्दोष सीता-भगवती को उसने रामजी की आज्ञा से वन में छोड़ा है, उस घोर कर्म से उस का कैसे निस्तार हो, परन्तु लक्ष्मणजी बोलते नहीं थे कारण कि रामजीने उनसे कह दिया था कि, 'वक्ष्यसे यदि वा किंचित्तदा मां हतवानसि', यदि इस विषय में कुछ कहोगे तो मेरी हत्या करोगे। परन्तु रामजी सर्वज्ञ हैं, उन्होंने लक्ष्मणजी जो कि उनके प्रिय कनिष्ठ भ्राता, सेवक और भक्त हैं, के मोह निवारण के निमित्त ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया है। श्री रामगीता में ६२ श्लोक हैं, उनमें से प्रथम ६ श्लोक विषय की भूमिका बांधने के लिये हैं। मुख्य विषय श्लोक सात से आरम्भ होता है। चूँकि लक्ष्मणजी पर कर्मकाण्ड के संस्कार वलवान थे, इसलिये कर्म ज्ञान का हेतु नहीं है इस विषय को रामजी ने सत्रह श्लोकों में तेईसिवें श्लोक तक कहा है। अब उपसंहार रूप से कहते हैं।

आदौ च मध्ये च तथा एव अन्ततः च—आदि में वाल्यावस्था होती है। इस में प्राणी अत्यन्त मूढ़ चञ्चलवृत्तिवाला होता है, सव से भयभीत रहता है, अतः यह अवस्था भय और शोक का कारण है। मध्य में तरुणावस्था होती है। इसमें प्राणी कामक्रोधादि वासनाओं में लिप्त रहता हैं जिस से अत्यंत विक्षुब्ध रहता है और अपने कल्याण की नहीं सोच सकता, यह अवस्था भी भयशोक का कारण है। अन्त में वृद्धावस्था होती है। इसमें प्राणी रोगग्रस्त, स्वजनों से उपेक्षित, वलहीन होता है, पूर्वावस्था में किये हुए दुष्कृत्यों से विक्षिप्त रहता है। अतः यह अवस्था भी भयशोक का कारण है **भवम्**—इन अवस्थाओं में संसार को **भयशोककारणम्**—भय और कष्ट, त्रितापों का कारण, मूल **विदित्वा**—जान कर, 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति श्रुतिः, बृहदारण्यक १।४।२ दूसरे से भय होता है, कामनाओं की तृप्ति न होने से क्रोध, व्यथा उपजती हैं। अतः संसार के भोगों

से अत्यन्त विरक्त होकर अर्थात् विवेक वैराग्यादि साधनचतुष्टय से सम्पन्न होकर, आत्मकल्याण, भवबंधमोचन, मोक्ष के लिये प्रयत्न करे। सद्गुरु की शरण में जाकर उन से ब्रह्मविद्या का उपदेश ग्रहण करे।

विधिवादचोदितम् समस्तं हित्वा—शास्त्रों में जो कर्म कर्तव्यता-रूप से बताये गये हैं—नित्य, नैमित्तिक काम्य—उन सब को, मोक्ष का अहेतु जान कर, त्याग दे, अर्थात् इन कर्मों को अकर्मदर्शनरूप विवेक के द्वारा त्यागकर, अहंकार, आसक्ति से रहित कर्म अकर्म ही हैं, अथवा कर्मों को ईश्वरार्थ करना, कर्म फलत्यागबुद्धि से करना, कर्म का संन्यास ही है। कर्मों का चित्तशुद्धिपर्यन्त निष्काम अनुष्ठान करे, और क्या करे? **अथ**—इसके उपरान्त, विरक्त होकर।

स्वम् आत्मानम् अखिलात्मनाम् भजेत्—अपने आत्मा के स्वरूप का अनुसंधान करे, ध्यान करे, कैसे आत्मा का? जो कि सर्वभूतों का अधिष्ठान आत्मा है। जैसे पूर्व में कहा है 'तस्माद् बुधो ज्ञानविचार-वान् भवेत्,' 'आत्मानुसंधानपरायणः सदा।' केवल एक ही कर्तव्यता रखे। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' इति श्रुतिः बृहदारण्यक. २।४।५ अरे यह आत्मा देखना चाहिये—सुनना, विचारना और ध्यान करना चाहिए ॥५५॥

आत्मन्यभेदेन विभावयन्निदं
भवत्यभेदेन मयात्मना तदा।
यथा जलं वारिनिधौ यथा पयः
क्षीरे वियद्व्योम्न्यनिले यथाऽनिलः ॥५६॥

अर्थ—जैसे सागर में जल, जैसे दूध में दूध, जैसे महाकाश में घटाकाश, वायु में वायु मिलकर एकता को प्राप्त होता है वैसे ही

मुझ आत्मा से यह जगत्, अभेदभावना से, ध्यान किये जाने पर एकता को प्राप्त होता है।

व्याख्या—यथा वारिनिधौ जलम्—जैसे समुद्र में नदियों का जल अभेद रूप से एक हो जाता है **यथा क्षीरे पयः**—जैसे एक पात्र का दूध क्षीर सागर मे मिल कर एकता को प्राप्त होता है, **यथा व्योम्नि वियत्**—जैसे घटाकाश, घट-उपाधि के भंग होने पर, महाकाश में एकत्व प्राप्त करता है **अनिले अनिलः**—शरीरस्थ प्राणवायु वहिर्स्थ प्राण-वायु के साथ मिल कर एक होता है, वैसे ही **आत्मनि इदम् अभेदेन विभावयन्**—आत्मा में यह संसार, जीवपन, अभेदभावना से ध्यान किये जाने पर **तदा मया आत्मना अभेदेन भवति**—उस भावना के परिपक्व होने पर मुझ आत्मा से अभेदता को, एकरूपता को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि संसार के दो भाग है एक चेतन दूसरा मायिक। अस्ति भाति प्रियरूपता ये तीन आत्मा के लक्षण हैं, अर्थात् सत्ता, स्फूर्ति, प्रियता अथवा सत्-चित्-आनन्द ये आत्मा के लक्षण हैं, और इस अनाम अमूर्त चेतन में नाम और आकार ये दोनों लक्षण माया कल्पित हैं। जगत में नामाकार को असत् जान कर त्याग दे और अवशेष चेतनांश ग्रहण करे। यही चेतन, सर्वाधिष्ठान, सर्वव्यापी एकतत्त्व ब्रह्म है, वही मैं हूँ। जीव, जगत्, आत्मा, ब्रह्म एक ही है। संसार कहने से संसार के व्यवहार का आधार देह तथा देहाभिमानी भी समझना।

'भावितं तीव्रवेगेन वस्तु यन्निश्चयात्मना।
पुमांस्तद्धि भवेच्छीघ्रं ज्ञेयं भ्रमर कीटवत्॥

अपरोक्षानुभूतिः ॥१४०॥

जिस वस्तु का निश्चय पूर्वक तीव्र वेग से ध्यान किया जाता है, पुरुष तुरन्त वही हो जाता है—भ्रमर कीट की तरह। यह विश्व ब्रह्म ही है, इस में श्रुति प्रमाण भी है, 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' मुंडक २।२।११ ब्रह्म ही यह विश्व है। ध्यान वल से इस तथ्य को अनुभवमात्र में लाना है

'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति श्रुतः बृहदा० २।४।६ जो यह दृश्य जगत है यह सब आत्मा है ।।५६।।

इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो
जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः ।
निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो
यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः ।।५७।।

अर्थ—देहाभिमानी भी मुमुक्षु यदि आत्मा और जगत् का इस प्रकार अभेद ध्यान करेगा तो स्वरूप को देखेगा, क्योंकि जगत तो मिथ्या ही है, इस का श्रुति और युक्ति प्रमाण से निराकरण हो जाता है। जगत् उसी प्रकार मिथ्या है जैसे कि नाना चन्द्रमा और दिशा में दिग्भ्रमादि।

लोकसंस्थितः मुनिः—संसार में स्थित, अर्थात् देहाभिमानी परन्तु विचारशील मुमुक्षु **यदि इत्थम् विभावयन् ईक्षेत**—यदि आत्मा और जगत् की एकता का ध्यान करता रहे, 'आत्मन्यभेदेन विभाय-न्निदम्' तो उस ध्यान के प्रौढ़ होने पर वह मुझ आत्मा से अभेद हो जायेगा। अपनी साधना का यह प्रत्यक्ष फल देखेगा, उस का देहा-भिमान भंग हो जायेगा और संसार में संस्थान की वजाये आत्मलोक में अवस्थान करेगा। **हि**—क्योंकि **जगत् मृषा एव**—क्योंकि संसार का तो नामरूपात्मक भाग मिथ्या है ही, उस का अधिष्ठान चैतन्यांश सत्य है, वही मैं आत्मा हूँ। कारण, जगत के नामाकार का श्रुति—प्रमाण तथा युक्ति से वाध हो जाता है, सर्वाधिष्ठान आत्मा का नहीं।

श्रुति-युक्तिमानतः निराकृतत्वात्—श्रुति और युक्ति प्रमाण से जगत् का निराकारण, वाध हो जाने से संसार सत्य नहीं है। श्रुति प्रमाण इस प्रकार हूँ। 'एकमेवाद्वितीयम्' छान्दोग्योपनिषद ६।२।१ ब्रह्म एक अद्वितीय तत्त्व है। 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इति श्रुतिः

कठोपनिषद २।१।११, ब्रह्म में नानात्व नहीं है 'ब्रह्मेदं विश्वम्' इति श्रुतिः, मुण्डकोपनिषद २।२।११ यह संसार ब्रह्म है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति श्रुतिः बृहदारण्यकोपनिषद २।४।६ जो यह सब जगत् है यह आत्मा है। युक्ति क्या है ? स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि में जगत् का बाध हो जाता है, आत्मा का नहीं। यदि जगत् सत्य होता, तो स्वप्न सुषुप्ति आदि में रहता, पर सब का अनुभव है कि जाग्रत्कालीन जगत् स्वप्न और सुषुप्ति में नहीं रहता, अतः यह जगत् मिथ्या है क्योंकि इस का बाध हो जाता है, आत्मा का नहीं।

६।१३६

यथा इन्दुभेदः---जैसे भिन्न भिन्न जलाशयों में प्रतिविम्वित नाना चन्द्रमा मिथ्या होते हैं, वस्तुतः चन्द्रमा एक ही है, उसी प्रकार उपाधिकृत नाना भेद मिथ्या हैं। **दिशि दिग्भ्रमादयः**---पूर्व दिशा में जैसे पश्चिम दिशा का भ्रम हो जाये। दिशा का यथार्थ ज्ञान होने पर वह भ्रम नष्ट हो जाता है। आदिपद से रज्जु में सर्प का, सीपी में चाँदी का भ्रम समझना चाहिये। रज्जु और सीपी का ज्ञान होने पर भ्रमभंग हो जाता है। ॥५७॥

यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं
तावन्मदाराधनतत्परो भवेत् ।
श्रद्धालुरत्यूर्जितभक्तिलक्षणो
यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि ॥५८॥

अर्थ---जब तक समस्त जगत मेरा रूप न दिखाई दे तब तक मेरी आराधना में लगा रहे। इस प्रकार जो श्रद्धायुक्त और उदार-भक्तिलक्षण वाला साधक होगा, उस के हृदय में मैं निरन्तर ही दर्शनीय हूँगा।

व्याख्या---रामजी कहते हैं कि यदि मुमुक्षु साधक विचार करने में, बुद्धिमन्दता के कारण, असमर्थ हो तो मेरी उपासना से भी मोक्षसिद्धि

हो सकती है। **यावत्**—जब तक **अखिलम्**—आकाश से लेकर स्थूलदेह पर्यन्त यह विश्व **मदात्मकम् न पश्येत्**—रामरूप, आत्मारूप से न दिखाई दें, मैं सर्वभूतात्मा राम ही जगतरूप से भास रहा हूँ, यह विश्व मुझ राम में ही अध्यस्त है, मुझ से ही सत्तावान है, मुझ से पृथक् नहीं है। जगत मेरा विवर्त है। इस प्रकार जब तक जगत् को मुझ से अभिन्न न देखे **तावत् मदाराधनतत्परः भवेत्**—तब तक तू मेरी अभेद रूप से आराधना में तत्पर हो। मेरा ही नाम स्मरण कीर्तन कर, मेरा ही चिन्तन कर, मेरा ही ध्यान कर, विषयों का ध्यान न कर। उपासना दो प्रकार की होती है निर्गुण और सगुण। आगे रामजी कहेंगे 'यः सेवते मामगुणं गुणात्परं, हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।' मन्द मुमुक्षु अभेद उपासना करते हैं, तीव्र मुमुक्षु विचार करते हैं। जिस प्रकार भी हो फल में समानता हैं।

उपासना द्वैत से होती है; एक उपास्य देव दूसरा उपासक। परन्तु यद्यपि अभेदउपासना के आरम्भ में भी द्वैत होता है, परन्तु उसका फल अभेद होता है। जैसे पूर्व में कहा है, 'प्रकाशरूपोऽहम-जोऽहमद्वयोऽस्कृतविभातोऽहमतीव निर्मलः। विशुद्धविज्ञानमयो निरा-मयः सम्पूर्ण आनन्दमयो ह्यविक्रियः।। इस प्रकार मेरा चिन्तन, ध्यान करने से मेरा सच्चिदानन्दरूप तेरे में अवतरण होकर तू मुझ से अभेद आत्मा हो जायेगा। **यः श्रद्धालुः अति ऊर्जितभक्तिलक्षणः**—श्रद्धा और अनन्य उदारभक्ति के लक्षण से युक्त होकर, अव्य-भिचारी भक्तियोग से जो अभेद उपासक है।

तस्य हृदि—मेरी कृपा से निर्मल हुए उस के अन्तःकरण में **अहम्**—मैं राम, आत्मा **अहः निशम् दृश्यः**—निरन्तर अपने स्वरूप को प्रकाशित करूँगा। उन पर कृपा करके मैं उन्हें ज्ञानयोग दूँगा जिस से वे मुझे जान सकें। 'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी' विवेकचूडा-मणि ।।३२।। मंद मुमुक्षु के लिये ज्ञानसाधनों में भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। विचार से सिद्धि शीघ्र मिलती है, भक्ति से दीर्घकाल में, परन्तु फल-प्राप्ति अवश्यंभावी ध्रुव है।

रहस्यमेतच्छ्रुतिसारसंग्रहं
मया विनिश्चित्य तवोदितं प्रिय ।
यस्त्वेतदालोचयतीह बुद्धिमान्
स मुच्यते पातकराशिभिः क्षणात् ।।५६।।

अर्थ—हे प्रिय भ्राता ! यह उदेश जो मैंने तुझे भले प्रकार निश्चय करके दिया है, वेदों का संक्षिप्त सार है, और गोपनीय है। जो भी इस पर विचार करेगा वह बोधवान होगा और पापपुंजों से तत्क्षण मुक्त हो जायेगा ।

व्याख्या—रामजी अपने उपदेश की श्लाघा करते हैं। **प्रिय**—हे लक्ष्मण ! तू मेरा कनिष्ठ भ्राता, सेवक, शूरवीर, श्रद्धावान, भक्त, शुद्धमानस तथा मुमुक्षु होने के कारण मुझे प्रिय है । प्रिय शद्ध से भगवान रामजी ने लक्ष्मण जी को हर्षित किया है **एतत् श्रुतिसार-संग्रहम्**—मैं ने तुझे ब्रह्मविद्या का जो उपदेश दिया है, वह वेदों के सार का संग्रह, संक्षेप है । अप्रमाणिकता कलंक दूर करने के लिये भगवान ने अपने उपदेश को श्रुतिसम्मत कहा है **रहस्यम्**—अति-गोपनीय है, इसमें मोक्ष का हेतु ब्रह्मविद्या, कर्म ज्ञान के समुच्चयवाद का निराकरण, 'तत्त्वमसि' महावाक्य का संशोधन, समाधि विधि आदि वहुत से आवश्यक पर गोपनीय सूक्ष्म विषयों का रहस्योदघाटन किया है **मया विनिश्चित्य**—मुझ ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु से सम्यक् प्रकार से निश्चय करके **तवोदितम्**—अनुभववचन तेरे लिये, जो कि ज्ञान का अधिकारी है, कहा है । इसको जान कर तू जीवन्मुक्त होगा ।

यः तु—तेरे सिवाय यदि और भी कोई मुमुक्षु, तेरे समान गुणों वाला **एतत् आलोचयति**—इस ब्रह्मविद्या पर विचार करेगा **सः इह बुद्धिमान्**—वह इसी लोक में जीवितावस्था में ही बोधवान होकर **पातकराशिभिः**—पापपुंजों से, कोटि कर्मों के शुभाशुभ फलों से, पातक के साथ शुभकर्मों की राशि भी लेनी चाहिए । **क्षणात् मुच्यते**—तत्काल ही, आत्मसाक्षात्कार होते ही छूट जाता है, 'अहं ब्रह्मास्मि

मन्त्रोऽयं कोटिदोषं विनाशयेत्' इति श्रुतिः, 'मैं ब्रह्म हूँ' यह मन्त्र करोड़ों पातकों को नष्ट करता है। 'क्षणं ब्रह्माहमस्मीति यः कुर्यादात्मचिन्तनम्। तन्महापातकं हन्ति तमः सूर्योदयो यथा ॥६॥' ब्रह्मानुचिन्तनम्, मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार जो ब्रह्मचिन्तन करता है, उस के महापातक भी क्षण भर में नष्ट होते हैं जैसे सूर्य का प्रकाश रात्रि के घोर अन्धकार को क्षण भर में नष्ट करता है।

यहाँ रामजी ने अपने उपदेश का फल ज्ञानवान होकर 'मुच्यते पातकराशिभिः क्षणात्' वताया है। रामजी के लिये ऐसा कहना आवश्यक है क्योंकि लक्ष्मणजी के पापकर्मभयसंस्कार नष्ट करने हैं। ज्ञानोदय से सर्वसुखप्राप्ति तथा सर्वदुःख निवृत्तिरूप कैवल्य मोक्ष होता है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इति श्रुतिः, ब्रह्मज्ञान से ही कैवल्य मोक्ष होता है ॥ 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसः क्षयात्पापस्य कर्मणः।' मनुष्य के पापकर्म क्षय होने से ब्रह्मज्ञान उदय होता है ॥५९॥

भ्रातर्यदीदं परिदृश्यते जग-
न्मायैव सर्वं परिहृत्य चेतसा।
मद्भावनाभावितशुद्धमानसः
सुखी भवानन्दमयो निरामयः ॥६०॥

अर्थ—हे भाई! यह जो जगत प्रतीत होता है, यह माया है (आत्मा नहीं है) इस सव में सत्यबुद्धि त्याग कर मुझ आत्मा के ध्यान से शुद्धचित्त होकर सुखी, निरुपद्रव और आनन्दित होओ।

व्याख्या—पूर्वोक्त विषय को ही रामजी दृढ़ता के लिये फिर कहते हैं, और साथ ही लक्ष्मणजी को आशीर्वाद देते हैं।

हे भ्रातः!—हे भाई! **यदि इदम् जगत् परिदृश्यते**—यत् के अर्थ में यदि, जो यह जगत् ब्रह्म से भिन्न सा भासता है, मैं तुम्हें सत्य-सत्य कहता हूँ कि **माया एव**—यह सव माया ही है, 'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः। इति ब्रूते श्रुतिः साक्षात्सुषुप्तावनुभूयते ॥ ४०६॥ विवेकचूडामणि, वेद भगवान साक्षात कहते हैं कि यह द्वैत-

मायामात्र है, वास्तव में अद्वैत ब्रह्म ही है। सुषुप्ति में भी ऐसा ही अनुभव होता है। **सर्वम् परिहृत्य**---इस सब प्रपंचजाल में से सत्य-बुद्धि हटाकर **मद्भावना-भावित-शुद्धमानसः**---मेरे सच्चिदानन्दघन परिपूर्ण परमात्मा के ध्यान से रजोगुण और तमोगुणरूप मलदहन करके शुद्ध सत्त्वगुणी अन्तःकरण वाला होकर, मेरा आशीर्वाद है कि तुम **सुखी निरामयः आनन्दमयः भव**---सर्वभवदुःखरहित, वासना-कोलाहल से विक्षेपरहित शान्त, अज्ञाननाशक स्वस्वरूप दर्शन से आनन्दित हो जाओ ॥६०॥

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाश्रितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः ॥६१॥

अर्थ---जो मेरे स्वरूप का गुणातीत निर्गुण ध्यान अथवा कभी सगुण ध्यान करता है, वह मेरा ही रूप, ब्रह्मरूप हो जाता है। वह ऐसा साधक अपने चरणों से उठी हुई धूलि के स्पर्श से तीनलोकों को पवित्र करता है, जैसे कि सूर्य जगत को पवित्र करता है।

व्याख्या---श्लोक ५८ में कहा है 'मदाराधनतत्परो भवेत्' मेरी आराधना, उपासना में तत्पर हो जाये उसी भाव को इस श्लोक में विशद करते हैं। **यः कदा वा**---जो साधक किसी कारणवश, बुद्धिमन्दता अथवा विषयानुराग से विचार करने में असमर्थ हो **माम् अगुणम् गुणात् परम्**---मेरे दो प्रकार के स्वरूप हैं। एक मुख्य, दूसरा गौण। निर्गुण मेरा मुख्य स्वरूप है, और सगुण गौण, जो साधक मेरे सत्त्वरजतमोगुणरहित, मायातीत, सच्चिदानन्द स्वरूप का **यदि वा**--अथवा भावनाप्रधान विक्षिप्त रसिक मुमुक्षु मेरे **गुणात्मकम्**--मेरे गौण अर्थात् सगुण स्वरूप का, सर्वज्ञता सर्वशक्तिमान स्वतंत्र, अलौकिक लावण्ययुक्त आत्मा अर्थात् विग्रहधारी ईश्वर का **हृदा**--शुद्ध अन्तः-

करण से, वाणीमात्र से नहीं सेवते—सेवन करता है, भजता है, ध्यान करता है। जो मुमुक्षु उपासक मेरे निर्गुण स्वरूप का अभेदरूप से का ध्यान करता है, अथवा मेरे सगुण स्वरूप का ध्यान करता है **सः अहम्**—वह तो मैं ही हूँ, अर्थात वह मेरा स्वरूप हो जाता है, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।' गीता ७।१८।, ज्ञानी तो मेरा ही आत्मा है।

सगुणोपासक मेरा रूप कैसे होता है? निर्गुणोपासना अव्यक्तगति है। देहाभिमानी पुरुषों को कठिनाई से प्राप्त होती है। सगुणोपासना न्यूनकष्टसाध्य है। सगुणोपासकों मुमुक्षुओं का मैं राम, ईश्वर, उपास्य देव संसारसागर से शीघ्र ही उद्धार करता हूँ, अर्थात् उन की उपासना दृढ़ होने पर मैं ईश्वर उन को यह रहस्य व्यक्त कर देता हूँ कि वे मुझ से अभेद हैं, मेरा ही रूप हैं। 'तेषामहं समुद्धर्ता, मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।' गीता १२।७, जिन्होंने अपना चित्त मेरे सर्मपित कर दिया है ऐसे सगुणोपासकों का मैं, ईश्वर शीघ्र ही मृत्युसंसारसागर से उद्धारकर्ता होता हूँ। **स्वपादांचितरणुभिः लोकत्रितयम् पुनाति**—ऐसा मेरा भक्त–निर्गुण अथवा सगुण उपासक–अपने चरणों से उठी धूलि से तीनों लोकों को पवित्र करता है, अज्ञानांधकार को दूर करके निर्मल करता है, क्योंकि ज्ञान के समान पवित्र करनेवाली अन्य कोई वस्तु नहीं है **यथा रविः**—जैसे कि सूर्य अपने प्रकाश से जगत का अन्धकार नाश करके उसे आलोकित करता है ।।६१।।

विज्ञानमेतदखिलं श्रुतिसारमेकं
वेदान्तवेद्यचरणेन मयैव गीतम् ।
यः श्रद्धया परिपठेद्गुरुभक्तियुक्तो
मद्रूपमेति यदि मद्वचनेषु भक्तिः ।।६२।।

इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे
श्रीरामगीतानाम पंचमः सर्गः ।।

अर्थ--यह साधना सहित समस्त ज्ञान श्रुतियों का सार और अद्वतीय ब्रह्मपरक है। जो वेदों द्वारा लक्षित हो ऐसे मेरे एक अंश रामरूप आत्मा से ही यह ज्ञान गाया गया है। जो गुरुभति से युक्त होकर श्रद्धापूर्वक इस रामगीता का पाठमात्र भी अथवा श्रवण करेगा, उसे सारूप्य मोक्ष मिलेगा, यदि मेरे वचनों में विश्वास हो तो।

व्याख्या--अब रामगीता के पाठमात्र का फल बताते हैं। **एतत् अखिलम् विज्ञानम् श्रुतिसारम् एकम्**--यह समस्त (साधना सहित ज्ञान, विज्ञान कहलाता है) विज्ञानजनक, अज्ञाननाशक मेरा अद्वैतब्रह्म संबंधी उपदेश श्रुतियों का निचोड़ प्रामाणिक **मया एव**--मुझ राम-रूप आत्मा से ही, अन्य से नहीं, कैसा हूँ मैं? **वेदान्तवेद्यचरणेन गीतम्**--उपनिषदों के वाक्यों से जानने योग्य, 'वेदैश्च सर्वै रहमेव वेद्यः' गीता १५।१५। मैं आत्मा ही सब वेदों से जानने योग्य हूँ, लक्षित किया जाता हूँ, मेरे एक चरण, चतुर्थांश भाग से यह गीताज्ञान गाया गया है। उस भाग से जिस ने कि समस्त विश्व को धारण कर रक्खा है, 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।३। पुरुष-सूक्त। इस पुरुष के एक पाद ने समस्त भूतों को धारण किया है, और बाकी तीन पाद दिवि में अर्थात् समाधि में लीन रहते हैं। 'विष्ट-भ्याहमिदं कृत्सनं एकांशेन स्थितो जगत्' गीता १०।४२ मैं इस समस्त विश्व को एक पाद से दृढ़ता से धारण करके स्थिर हूँ।

मैं, राम, ब्रह्म की प्रत्यक्ष मूर्ति हूँ, मैं ने यह ज्ञानोपदेश निजमुखार-विन्द से गाया है, मेरा दशरथ का पुत्र होना, तुम्हारा भ्राता होना तथा सीतापति होना, अयोध्या का राजा होना इत्यादि तो मेरी लीला मात्र हैं। ब्रह्म अनन्त है, उस के एक अंशमात्र मुझ राम से यह ज्ञान कहा गया है। **यः**--जो इस रामगीता के अर्थ विचार करने में असमर्थ हो **गुरुभक्तियुक्तः श्रद्धया परिपठेत्**--परन्तु गुरुभक्त और शास्त्र के वचनों में विश्वास करनेवाला हो, ऐसा पुरुष आदरसहित इस रामगीता का केवल पाठ समाहात्म्य करे, शनैः शनैः उच्चस्वर से पाठ करे, गायन करे, अथवा श्रद्धापूर्वक श्रवण करे, उस का भी महान

फल है। क्या फल है ? **मद्रूपम् एति**—मेरे रूप को प्राप्त होता है, सारूप्य मोक्ष प्राप्त करता है। देहपात के उपरान्त मेरे लोक को प्राप्त होकर मेरे समीप ही मेरा ही रूप धारण करके निवास करता हैं। ऐसा महत फल क्यों ?

यदि मद्वचनेषु भक्तिः—यदि पाठक की मेरे वचनों में श्रद्धा हो तो ऐसा विराट फल मिलता है। श्रद्धा से किया पाठ वीर्यवान होता है।

तात्पर्य यह है कि विचारक मुमुक्षुओं को रामगीता का फल कैवल्यमोक्ष है। जीवितावस्था में ही उन को आत्माज्ञान हो जाता है, फिर जीवन्मुक्ति का आनन्द लेते हुए भोग द्वारा प्रारब्ध कर्म को क्षय करके देहपात के उपरान्त विदेहमोक्ष को प्राप्त होते हैं। जो वासनादि विक्षेपों के कारण विचार में क्षम नहीं, वे रामजी के स्वरूप की अभेद उपासना करके क्या तो शरीरत्यागते समय उन्हें बोध हो जाता है, अथवा ब्रह्मलोक में जाकर वहाँ के दिव्यभोगों को भोगते हुए महाप्रलय में ब्रह्मलोक के पतन के साथ वे मुक्त होते हैं। जो भक्तश्रेणी के लोग इस का पाठमात्र माहात्म्य सहित करते हैं वे शरीरत्यागने पर अपने इष्ट रामजी के रूप को प्राप्त होकर उनके साकेत लोक में जाकर निवास करते हैं, इस प्रकार उन की भी सद्गति होती है ॥६२॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु यतियतीन्द्र महामहामंडलेश्वर महावेदान्तकेसरी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद स्वामी ओंकाराश्रमजी दंडी के शिष्य हरियाणानिवासी पंडित हेमराज शर्मा के सुपुत्र मनोहरलाल शर्मा एम० ए० 'गुरुभक्तरत्न' द्वारा भगवान वेदव्यास कृत 'रामगीता' नामक ग्रन्थ पर रचित 'ब्रह्मविवेचनी प्रदीपिका' नामक हिन्दी व्याख्या समाप्ता।

॥ श्रीरामार्पणमस्तु ॥

—०—